सत्तामीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा

(Ontology and Epestimology)

रवीन्द्र कुमार दास

सत्तामीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा
(Ontology and Epistemology)

रवीन्द्र कुमार दास

ग्रन्थभारती प्रकाशन
दिल्ली

प्रकाशक :
ग्रन्थभारती प्रकाशन
डी-10/1061 (समीप श्रीमहागौरी मन्दिर)
खजूरी खास, दिल्ली-110090

प्रथम संस्करण : 2018

ISBN : 81-901913-4-9

मूल्य : 150.00

मुद्रक :
विशाल कौशिक प्रिंटर्स
दिल्ली।

प्राक्कथन

भारतीय दर्शन के अनुसार जीवन का अंतिम लक्ष्य एक ही है। कर्म और पुनर्जन्म के अनादि चक्र से निकलकर मनुष्य दुःख और विषाद से मुक्त हो जाता है। आरंभिक दिनों से ही भारतीय दार्शनिकों ने अनुभव और यथार्थ के समन्वय के महत्त्व को समझ लिया था और उसे स्वीकृत कर लिया था। वैदिक काल में भारतीय दार्शनिकों ने घोषणा कर दी कि ईश्वर एक है, लेकिन मनुष्य उसे कई नामों से पुकार सकता है। भारतीय चिंतन परंपरा में प्रारंभ से धर्म और दर्शन, ज्ञान और कर्म, इच्छा और तर्क, मनुष्य और प्रकृति, घटित और अघटित के समन्वय को स्वीकृति मिली है। दर्शन और अध्यात्म के अध्ययन के लिए हमें पूर्वाग्रह से मुक्त होना चाहिए। एक जिज्ञासु मस्तिष्क ही आत्मा की खोज कर सकता है। जिसके भीतर वास्तविक जिज्ञासा नहीं है, उसे यह सदा भ्रमपूर्ण नजर आएगा। भारतीय दर्शन में छह तत्त्व सदा प्रमुख रहे हैं। इन्हीं को भारतीय दर्शन की विशेषता के रूप में भी देखा जा सकता है। इसे बिन्दुवार इस तरह देख सकते हैं :

1. भारतीय दर्शन का अध्यात्म केन्द्रित होना। एक चार्वाक दर्शन को छोड़कर बाकी सभी भारतीय दर्शनों, संप्रदायों और धर्मों को एक आध्यात्मिक यात्रा के रूप में देखा जा सकता है। वेद, पुराण, स्मृति और षड्दर्शन के तमाम साहित्य में व्यक्ति और समाज के लिए जो जीवन शैली बताई गई है, वह मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन को प्रोत्साहित करती है।
2. समाज के दार्शनिक रूपांतरण का प्रयत्न। यहाँ दर्शन का प्रयोजन अपने लिए ज्ञान की प्राप्ति नहीं है, बल्कि उस सत्य को जानना है जो मनुष्य को मुक्त कर दे। भारतीय दर्शन की सभी प्रमुख धाराओं में दार्शनिक ज्ञान के माध्यम से मानवीय दुखों को दिव्यता प्रदान करने की कोशिश की गई है। भारत में सत्य का अर्थ सिर्फ़ जिज्ञासा का विषय नहीं है, बल्कि सत्य वह

है जिसे हम जीते हैं। भारतीय दर्शन का उद्देश्य मनुष्य को यह बताना है कि जीवन का सत्य क्या है, वह उसे जाने और जान कर तदनुसार जिएँ। इस तरह इस ज्ञान के लिए भारत में दर्शन शब्द का अर्थ बहुत ही सारपूर्ण है क्योंकि इसका अर्थ होता है देखना। देखने का अर्थ है किसी चीज को खुद भोगना, जो ज्ञान के माध्यम से महसूस करने या समझने की क्रिया से अलग और गंभीर है।

3. यथार्थ या सत्य का आत्मबोध, आत्मज्ञान। यह बाहरी ज्ञान को उतना महत्त्व नहीं देता, जितना अंत:ज्ञान को। यहाँ दर्शन का अर्थ है आत्मविद्या या अपने को जानने की प्रक्रिया। हालांकि भारतीय सभ्यता के स्वर्णिम काल में भौतिक विज्ञान को अचूक गणनाओं के साथ विकसित किया गया था, पर हमारे दार्शनिक चिंतन के केन्द्र में आत्मज्ञान की दृष्टि ही बनी रही। यहाँ नक्षत्र शास्त्र, गणित, चिकित्सा के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व प्रगति हुई, लेकिन मनुष्य की आंतरिक चेतना को ज्ञात इतिहास के पहले से भारत में महत्वपूर्ण माना जाता रहा है और यह विश्वास सदा कायम रहा कि यही ज्ञान उसे अपने अस्तित्व की सत्यता का आभास करा सकता है।

4. भारतीय दर्शन एकात्मवादी है। हालांकि विभिन्न धाराएँ प्रथमदृष्ट्या एक-दूसरे की विरोधी या एक-दूसरे से टकराती नजर आती हैं, लेकिन अंतत: सबका निष्कर्ष एक ही है कि सत्य एक है, जिसे आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा पाया जा सकता है।

5. हमारा दर्शन सत्य तक पहुँचने का अंतिम मार्ग आत्मज्ञान को ही मानता है। सत्य को समझाने या दर्शाने के लिए तर्क और विवेचना का महत्त्व है, लेकिन तर्क सत्य की खोज नहीं कर सकता या स्वयं उस तक नहीं पहुँचा सकता। बिना किसी तार्किक प्रक्रिया के ही उसे जानने और महसूस करने का यह तरीका अद्भुत और दूसरों की ज्ञान मीमांसा से बिल्कुल अलग है और यह भारतीय दर्शन की पांचवीं विशेपता है।

6. पूर्व ज्ञानी के ज्ञान में पूर्ण आस्था। जिन ऋषियों ने श्रुतियों का ज्ञान प्राप्त किया, उन्होंने सचमुच आत्मज्ञान प्राप्त किया था - इसमें लगभग सभी परवर्ती ऋषियों या दार्शनिकों ने विश्वास किया। इसीलिए हमारी सभी दार्शनिक धाराओं का आधार परंपराओं से ही आता है और बाद में किसी ने भी उसमें कोई बुनियादी उलटफेर या बदलाव नहीं किया है।

इस पुस्तक को तीन खण्डों में विभाजित कर रखा गया है। पहले खंड में दर्शनशास्त्र का परिचय और दार्शनिक संप्रत्यय हैं, दूसरे खंड में सत्तामीमांसा और तीसरे खंड में ज्ञानमीमांसा है।

यह पुस्तक यद्यपि स्नातक स्तर के छात्रों को ध्यान में रखकर अवश्य लिखी गई है तथापि ग्रंथकार ने छात्रों में विस्तृत अध्ययन हेतु जिज्ञासा जगाने हेतु प्रसंगों में किंचित् विस्तार भी दिया है। विषय के अनुरूप भाषा नई और कठिन प्रतीत हो सकती है, किन्तु जैसे जैसे विषय की अवगति होगी, भाषा सहज और सरल लगने लगेगी। उन्हें पूर्ण अवगति के लिए अपने विद्वान् प्राध्यापकों के परामर्श की आवश्यकता हो सकती है। आशा है, यह पुस्तक उनके पाठ्यक्रम के लिए सहायक सिद्ध होगी।

आप सभी सुधी विद्वानों के परामर्श, सुझाव एवं मार्गदर्शन की प्रतीक्षा रहेगी।

भवदीय

रवीन्द्र कुमार दास

नई दिल्ली
जनवरी 26, 2018

विषय-सूची

खण्ड दो : सत्तामीमांसा

खण्ड एक
परिचय एवं संप्रत्यय

प्रथम अध्याय
दर्शनशास्त्र का परिचय

परिचय

दर्शन शब्द संस्कृत की दृश् धातु से बना है- "दृश्यते यथार्थतत्त्वमनेन" अर्थात् जिसके द्वारा यथार्थ तत्त्व की अनुभूति हो वही दर्शन है। अंग्रेजी के शब्द फिलॉसफी का शाब्दिक अर्थ "ज्ञान के प्रति अनुराग" होता है। भारतीय व्याख्या अधिक गहराई तक पैठ बनाती है, क्योंकि भारतीय अवधारणा के अनुसार दर्शन का क्षेत्र केवल ज्ञान तक सीमित न रहकर समग्र व्यक्तित्व और सम्पूर्ण जीवन को अपने आप में समाहित करता है। हमारे यहाँ दर्शन चिन्तन का विषय न होकर अनुभूति का विषय माना जाता है। दर्शन के द्वारा बौद्धिक तृप्ति का आभास न होकर समग्र व्यक्तित्व बदल जाता है। यदि आत्मवादी भारतीय दर्शन की भाषा में कहा जाये तो यह सत्य है कि दर्शन द्वारा केवल आत्म-ज्ञान ही न होकर आत्मानुभूति हो जाती है। दर्शन हमारी भावनाओं एवं मनोदशाओं को प्रतिबिम्बित करता है और ये भावनायें हमारे कार्यों को नियंत्रित करती हैं।

दर्शन का भारतीय सम्प्रत्यय

भारत में दर्शन का उद्गम असन्तोष या अतृप्ति से माना जाता है। हम वर्तमान से असन्तुष्ट होकर श्रेष्ठतर की खोज करना चाहते हैं। यही खोज दार्शनिक गवेषणा कहलाती है। दर्शन के विभिन्न अर्थ बताये गये हैं। उपनिषद् काल में दर्शन की परिभाषा थी-जिससे देखा जाये अर्थात् सत्य के दर्शन किये जाएं वही दर्शन है। जैसा कि कहा गया है **दृश्यते अनेन इति दर्शनम्।** डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन के अनुसार, दर्शन वास्तविकता के स्वरूप का तार्किक विवेचन है।

दर्शन का पाश्चात्य सम्प्रत्यय

पश्चात्य जगत् में दर्शन का सर्वप्रथम विकास यूनान में हुआ। प्रारम्भ में दर्शन

का क्षेत्र व्यापक था परन्तु जैसे-जैसे ज्ञान के क्षेत्र में विकास हुआ और इस तरह दर्शन एक विशेष अनुशासन के रूप में सीमित हो गया।

जो सभी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा रखता है और सीखने के लिये आतुर रहता है कभी भी सन्तोष करके रुकता नहीं, वास्तव में वह दार्शनिक है। प्लेटो के शब्दों में- "पदार्थों के सनातन स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना ही दर्शन है।"

"दर्शन एक ऐसा विज्ञान है जो परम तत्त्व के यथार्थ स्वरूप की जाँच करता है।" - अरस्तु

दर्शन बोध क्रिया का विज्ञान और उसकी आलोचना है। परन्तु आधुनिक युग में पश्चिमी दर्शन में भारी बदलाव आया है, अब वह मूल तत्त्व की खोज से ज्ञान की विभिन्न शाखाओं की तार्किक विवेचना की ओर प्रवृत्त है। अब दर्शन को विज्ञानों का विज्ञान और आलोचना का विज्ञान माना जाता है। कामटे के शब्दों में- "दर्शन विज्ञानों का विज्ञान है।" और हरबार्ट स्पेन्सर के शब्दो में "दर्शन विज्ञानों का समन्वय या विश्व व्यापक विज्ञान है।"

दर्शन का वास्तविक सम्प्रत्यय

ऊपर की गयी चर्चा से यह प्रतीत होता है कि दर्शन के विषय में भारतीय दृष्टिकोण और पाश्चात्य दृष्टिकोण में मूलभूत अन्तर है। परन्तु दर्शन की मूलभूत सर्वसम्मत परिभाषा होनी चाहिये- "दर्शन ज्ञान की वह शाखा है, जिसमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एवं मानव के वास्तविक स्वरूप सृष्टि-सृष्ट्या, आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत, ज्ञान-अज्ञान आदि का ज्ञान प्राप्त करने के साधन और मनुष्य के करणीय और अकरणीय कर्मों का तार्किक विवेचन किया जाता है।" इस परिभाषा में प्राकृतिक, सामाजिक, अनात्मवादी व आत्मवादी और अन्य सभी दर्शन आ जाते हैं, और दर्शन के निम्नलिखित अर्थ प्रतिबिम्बित होते हैं-

1. **दर्शन का मूल ज्ञान के लिये प्रेम**- दर्शन शब्द के लिये अंग्रेजी शब्द फिलॉसफी है। इस शब्द की उत्पत्ति दो यूनानी शब्द से हुयी है। फिलॉस जिसका अर्थ है- प्रेम तथा सोफिया जिसका अर्थ है ऑफ विज्डम। इस प्रकार से फिलॉसफी का अर्थ है 'लव फॉर विज्डम' या ज्ञान के लिये प्रेम। सुकरात के अनुसार "वे व्यक्ति दार्शनिक होते हैं जो सत्य के दर्शन हेतु उत्सुक होते हैं।"

2. **दर्शन का अर्थ सत्य की खोज**- दूसरी ओर प्रथम परिभाषा भी यह स्पष्ट करती है कि दर्शन जीवन के सत्यों की खोज और उसे जानने की इच्छा तथा उसके साक्षात्कार को कहते हैं। किसी ने स्पष्ट किया है कि दर्शन विचारने का प्रयत्न है। हम यह भी कह सकते हैं कि जीवन तथा संसार के सम्बन्ध में विभिन्न तथ्यों को एक साथ एकत्र करना जो एकनिष्ठ सम्पूर्ण बनकर जो या तो एकता में हो या द्वितत्त्ववादी सम्प्रदाय में हों, अन्तिम सिद्धान्तों की एक छोटी संख्या में बहुवितरणों को बदल दे।

3. **विचारीकरण की कला**- पैट्रिक् के अनुसार- "दर्शन को हम सम्यक्, विचारीकरण की कला कह सकते हैं।" इसमें व्यक्ति तर्क एवं विधिपूर्वक संसार की वस्तुओं के वास्तविक रूप को जानने का प्रयास करता है। इस प्रकार से हम यह भी मान सकते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति जन्म से कुछ-कुछ दार्शनिक होता है।

4. **अनुभव की बोधगम्यता**- बाइटमैन के अनुसार- "दर्शन को हम वह प्रयास कह सकते हैं जिसके द्वारा सम्पूर्ण मानवीय अनुभवों के विषय में सत्यता के साथ विचार करते हैं अथवा हमारे सम्पूर्ण अनुभव बोधगम्य बनते हैं।"

5. **जीवन की आलोचना**- दर्शन में जगत् के दिग्दर्शन का बुद्धिवादी प्रयत्न किया जाता है। इसमें प्रयत्न किया जाता है कि तत्त्वों एवं पहलुओं के साथ समग्र ब्रह्माण्ड की धारणा पर पहुँच सके तथा पारस्परिक सम्बन्ध समझ सकें। दर्शन जीवन की आलोचना है।

6. **अंतिम उत्तर के रूप में**- दर्शन को उस उत्तर के रूप में देखा जा सकता है जिसमें अंतिम प्रश्नों का आलोचनात्मक ढंग से उत्तर दिया जाता है। वास्तव में दर्शन का अध्ययन केवल प्रश्नों के उत्तर के लिये नहीं अपितु प्रश्नों के लिये भी होता हैं।

7. **समस्याओं पर विचार करने का ढंग**- नवीनतम विचार के अनुसार दर्शन केवल गूढ़ एवं सूक्ष्म विचार ही नहीं वरन् यह समस्याओं पर विचार करने का ढंग है। इसके फलस्वरूप ज्ञान आदर्श मूल्य एवं अच्छाई मिलती है। हैण्डरसन लिखते हैं- "दर्शन कुछ अत्यन्त कठिन समस्याओं का कठोर, नियंत्रित एवं सुरक्षित विश्लेषण है, जिसका सामना मनुष्य सदैव करता है।"

निष्कर्ष

केवल ईश्वर ब्रह्म, जीव, प्रकृति, मनुष्य इसकी यर्थाथता एवं अंतिम वास्तविकता आदि से सम्बन्धित प्रश्नों तथा उत्तरों को ही दर्शन की परिधि में नहीं रखते। व्यापक अर्थ में दर्शन वस्तुओं, प्रकृति तथा मनुष्य उसके उद्‌गम और लक्ष्य के प्रति वीक्षण का एक तरीका है, जीवन के विषय में एक शक्तिशाली विश्वास है जो उसको धारण करने वाले अन्य से अलग करता है।

दर्शन का विषय क्षेत्र

भारतीय दार्शनिक विचारधारा के अनुसार दर्शन एवं जीवन में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। अतः सम्पूर्ण जीवन को दर्शन का विषय क्षेत्र माना गया है। हम दर्शन को मुख्यतः दो रूप में ग्रहण करते हैं–

1. सूक्ष्म तात्त्विक ज्ञान के रूप में।
2. जीवन की आलोचना और जीवन की क्रियाओं की व्याख्या के रूप में।

एक शास्त्र के रूप में दर्शन के अन्तर्गत निम्नलिखित विषयों को अध्ययन किया जाता है।

1. **आत्मा सम्बन्धी तत्त्व ज्ञान**– इसमें आत्मा से समबन्धित प्रश्नो पर विचार किया जाता है: यथा आत्मा क्या है? आत्मा का स्वरूप क्या है? जीव क्या है? आत्मा का शरीर से क्या सम्बन्ध है? इत्यादि।
2. **ईश्वर सम्बन्धी तत्त्व ज्ञान**– इसमें ईश्वर विषयक प्रश्नों के उत्तर खोजे जाते हैं : जैसे कि ईश्वर क्या है? उसका अस्तित्व है या नहीं? ईश्वर का स्वरूप कैसा है? इत्यादि।
3. **सत्ता-शास्त्र**– इसमें अमूर्त सत्ता अथवा वस्तुओं के तत्त्व के स्वरूप का अध्ययन किया जाता है: यथा– ब्रह्माण्ड के नश्वर तत्त्व क्या है? ब्रह्माण्ड के अक्षर तत्त्व कौन-कौन से हैं? इत्यादि।
4. **सृष्टि-शास्त्र**– इसमें सृष्टि की रचना एवं विकास से सम्बधित समस्याओं पर विचार किया जाता है : यथा– क्या सृष्टि अथवा ब्रह्माण्ड की रचना भौतिक तत्त्वों से हुई है? क्या ब्रह्माण्ड का निर्माण आध्यात्मिक तत्त्वों से हुआ है? इत्यादि।
5. **सृष्टि उत्पत्ति का शास्त्र**– इस शास्त्र में सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में

विचार किया जाता है : यथा- सृष्टि अथवा विश्व की उत्पत्ति किस प्रकार हुयी है? क्या इसकी रचना की गयी है? यदि हां तो इसकी रचना किसने की है? इत्यादि।

6. **ज्ञान-शास्त्र**- इस शास्त्र में सत्य ज्ञान से सम्बन्धित समस्याओं का हल खोजा जाता है : जैसे कि यथार्थ ज्ञान क्या है? इस ज्ञान को प्राप्त करने के कौन-से साधन है? क्या मानव बुद्धि इस ज्ञान को प्राप्त कर सकती है? इत्यादि।
7. **नीति-शास्त्र**- इसमें व्यक्ति के उचित एव अनुचित आचरण से सम्बन्ध रखने वाली बातों का अध्ययन किया जाता है। जैसे, नीति क्या है? मनुष्य को कैसा आचरण करना चाहिये? मनुष्य का कौन सा आचरण नीति विरुद्ध है?
8. **तर्क-शास्त्र**- इसमें तार्किक चिन्तन के विषय में विचार किया जाता है- यथा, तार्किक चिन्तन कैसे किया जाता है? तर्क की विधि क्या है? तार्किक चिन्तन का स्वरूप क्या है? इत्यादि।
9. **सौन्दर्य-शास्त्र**- इसमें सौन्दर्य-विषयक प्रश्नों के उत्तर खोजे जाते हैं। यथा, सौन्दर्य क्या होता है? सौन्दर्य का मापदण्ड क्या है? इत्यादि।
10. **दर्शन मनुष्य एवं जगत् के सम्बन्ध का अध्ययन**- दर्शन जीवन की आलोचना तथा जीवन क्रियाओं की व्याख्या है वहां दर्शन मनुष्य का सम्बन्ध जगत् से तथा जगत् की विविध गतिविधियों से क्या है, इसका अध्ययन करता है। जीवन का इस जगत् से सम्बन्ध समाज और समाज की आर्थिक, राजनैतिक शैक्षणिक आदि क्रियाओं के साथ है। अस्तु! सामाजिक दर्शन, आर्थिक दर्शन, राजनैतिक दर्शन तथा शिक्षा दर्शन भी अध्ययन के विषय बन गये हैं। इन सभी विषयों में समस्याओं के अध्ययन के साथ उनमें आदर्श एवं मूल्यों की स्थापना का प्रयास भी होता है।

दर्शन का उद्देश्य

दर्शन चिन्तन एवं विचार है, जीवन के रहस्यों को जानने का प्रयत्न है। अतएव दर्शन के निम्नलिखित उद्देश्य कहे जा सकते हैं:-

रहस्यात्मक आश्चर्य की सन्तुष्टि- दर्शन का आरम्भ भारत में तथा यूनान में आश्चर्य से हुआ है। वैदिक काल में मानव ने प्रकृति की सुन्दर वस्तुओं, घटनाओं एवं क्रियाओं को देखकर आश्चर्य किया कि सूर्य, चन्द्र, तारे, प्रकाश,

आंधी, वर्षा, गर्मी और मानव की उत्पत्ति कैसे हुई? मानव में इसे जानने की इच्छा हुई। उसने परम सत्ता की कल्पना की। उसने अपने (आत्म) एवं ईश्वर (परम) में अन्तर किया और दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध को खोजने के लिये प्रयत्नशील हुआ। मानव ने परमसत्ता को समस्त चराचर में समाविष्ट देखा और चिन्तन द्वारा अनुभूति या साक्षात्कार करने की मानव ने लगातार प्रयत्न किया और उस परमसत्ता की प्राप्ति को मोक्ष कहा। यही परमसत्ता की प्राप्ति भारतीय दर्शन कहलाया।

तात्त्विक रहस्यों पर चिन्तन- यूनान में "आश्चर्य" से दर्शन का जन्म माना गया है। यूनानी लोगों को भी प्रकृति की क्रियाओं पर आश्चर्य हुआ और संसार के मूलोद्‌गम को जानने की जिज्ञासा ने जन्म लिया। थेलीज ने जल को, एनैक्जीमैन्डर ने वायु और हैराक्लाइटस ने अग्नि को सृष्टि के उद्‌गम का मूल माना। वास्तव में ये तीन तत्त्व ही जगत् निर्माण के मूल माने गये। यही तत्त्व भारत में भी सृष्टि निर्माण के मूल तत्त्व माने गये हैं।

तर्क द्वारा संशय दूर करना- दर्शन का आरम्भ संशय से होता है। वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति केवल किसी की बात को मान लेने से नहीं होता है जब तक कि इसे तर्क देकर सिद्ध न किया जाये। डेकार्टे ने माना- "मैं विचार करता हूँ इसलिये मेरा अस्तित्व है" अर्थात् डेकार्टे ने आत्मा को सन्देह रहित माना। आत्मा मनुष्य में निहित है परन्तु ईश्वर की सत्ता असंदिग्ध हैं। दर्शन सत्य ज्ञान प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करता है।

यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना- भारतीय दृष्टिकोण से दर्शन का लक्ष्य सत्य की खोज करना है। यह सत्य प्रकृति सम्बन्धी तथा आत्मा सम्बन्धी हो सकता है। इसे यूनान के दार्शनिक प्लेटो ने माना और उनके अनुसार-दर्शन, अनन्त का तथा वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना है। अरस्तु ने और अधिक स्पष्ट करते हुये लिखा कि दर्शन का लक्ष्य प्राणी के स्वरूप का अन्वेषण करना है और उनमें निहित स्वाभाविक गुणों का पता लगाता है। वून्ट ने स्पष्ट किया- विद्वानों द्वारा प्राप्त समग्र ज्ञान का सामंजस्यपूर्ण एकता में एकत्रीकरण ही दर्शन है। अतएव "दर्शन पूर्ण रूपेण एकत्रित ज्ञान ही है।" दर्शन का लक्ष्य समग्र ब्रह्माण्ड को समग्र वास्तविकता का दिग्दर्शन है।

जीवन की आलोचना और व्याख्या करना- दर्शन का एक लक्ष्य आधुनिक

अर्थों में जीवन की आलोचना एवं व्याख्या करना तथा निश्चित धारणाओं को प्राप्त कराना है जिससे जीवन को लाभ हो सके। दर्शन का उद्देश्य व्यापक तथा विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित है।

जीवन के आदर्शों का निर्माण करना- प्राचीन काल से आज तक भारत में तथा अन्य सभी देशों में दर्शन का लक्ष्य जीवन के आदर्शों का निर्माण करना रहा है। दर्शन जीवन के प्रति उस निर्णय को कहते हैं जो मानव करता है। अत: आदर्श निर्माण दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य होता है।

दार्शनिक दृष्टिकोण की विशेषताएँ

दर्शन- प्रकृति, व्यक्तियों और वस्तुओं तथा उनके लक्ष्यों और उद्देश्यों के बारे में निरन्तर विचार करता है। ईश्वर, ब्रह्माण्ड और आत्मा के रहस्यों और इनके पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रकाश डालता है। जो व्यक्ति इनसे सम्बन्धित प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास करता है उसे हम दार्शनिक कहते हैं। रॉस ने लिखा है कि वे सब लोग जो सत्यता एवं साहस से उपर्युक्त प्रश्नों का कोई उत्तर देने का प्रयत्न करते हैं और जिन उत्तरों में कुछ सुसंगति तथा तर्कबद्धता होती है उनका दृष्टिकोण दार्शनिक होता है- चाहे वे भौतिकवादी हों धर्मशास्त्री या अज्ञेयवादी हों।" दार्शनिक दृष्टिकोण की अग्रलिखित विशेषताएं हैं-

- **विस्मय की भावना**- दार्शनिक वह व्यक्ति होता है, जो अपने चारों ओर की प्राकृतिक एवं सांसारिक व्यवस्था एवं घटनाओं को देखकर आश्चर्य प्रकट करता है और मूल कारण की खोज करने लगता है।
- **सन्देह**- दार्शनिक प्रत्येक बात के ठोस प्रमाण की खोज कर उसमें फँसने का प्रयास करता है और प्रत्येक बात को सन्देहास्पद दृष्टि से देखता है।
- **मीमांसा**- दार्शनिक किसी भी बात को ज्यों का त्यों नहीं स्वीकार करता है, प्रत्युत उसकी मीमांसा करके ही उसको मान्यता देता है।
- **चिन्तन**- मीमांसा के लिये चिन्तन की आवश्यकता होती है और इसलिए दार्शनिक चिन्तनशील होता है।
- **तटस्थता**- दार्शनिक अन्धविश्वासी नहीं होता। वह तटस्थ भाव से किसी भी प्रश्न पर चिन्तन करता है। उसमें विचार स्वातन्त्र्य होता है। वह स्वयं अपने मत का निर्धारण करता है।

द्वितीय अध्याय

भारतीय दर्शन की रूपरेखा

कुछ विचार बिन्दु

- भारत में वैदिक काल से ही दर्शन का प्रादुर्भाव दिखाई देने लगता है,। भारतीय दर्शनों में छः दर्शन अधिक प्रसिद्ध हुए–महर्षि गौतम का 'न्याय', कणाद का 'वैशेषिक', कपिल का 'सांख्य', पतंजलि का 'योग', जैमिनि की पूर्व मीमांसा अथवा बादरायण का 'वेदान्त'। ये सब वैदिक दर्शन के नाम से जाने जाते हैं, क्योंकि ये वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं। जो दर्शन वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं वे आस्तिक कहलाते हैं और जो स्वीकार नहीं करते उन्हें नास्तिक की संज्ञा दी गई है। किसी भी दर्शन का आस्तिक या नास्तिक होना परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने पर निर्भर न होकर वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने पर निर्भर है। यहाँ तक की बौद्ध धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों का भी उद्‌गम सैद्धान्तिक रूप से उपनिषदों में है। यद्यपि उन्हें सनातन धर्म नहीं माना जाता है, क्योंकि वे वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार नहीं करते।
- हमें बौद्धकाल में दार्शनिक, चिन्तन की प्रगति, साधारणतः, किसी ऐतिहासिक परंपरा पर होनेवाले किसी प्रबल आक्रमण के कारण ही सम्भव होती दिखती है, जब कि मनुष्य–समाज पीछे लौटने को और उन मूलभूत प्रश्नों को एक बार फिर उठाने के लिए बाध्य हो जाता है जिनका समाधान उसके पूर्वपुरुषों ने प्राचीनतर योजनाओं के द्वारा किया था। बौद्ध तथा जैन धर्मों के विप्लव ने, वह विप्लव अपने–आप में चाहे जैसा भी था, भारतीय विचारधारा के क्षेत्र में एक विशेष ऐतिहासिक युग का निर्माण किया, उसने कट्टरता की पद्धति को अन्त में उखाड़कर ही दम लिया तथा एक समालोचनात्मक दृष्टिकोण को स्थापित करने में सहायता दी। महान् बौद्ध विचारकों के लिए

तर्क ही ऐसा मुख्य शस्त्रागार था जहां सार्वभौम खंडनात्मक समालोचना के शस्त्र गढ़कर तैयार किए गए थे। बौद्ध दर्शन ने मस्तिष्क को पुराने अवरोधों के कष्टदायक प्रभावों से मुक्त करने में विरेचन का काम किया है।

- कुमारिल भट्ट, जिनकी सम्मति इन विषयों में प्रामाणिक समझी जाती है, स्वीकार करते हैं कि बौद्ध दर्शनों ने उपनिषदों से प्रेरणा ली है, और वे यह युक्ति देते हैं कि इनका उद्देश्य अत्यन्त विषय-भोग पर रोकथाम लगाना था। वे यह भी घोषणा करते हैं कि ये सब प्रामाणिक दर्शन हैं। वेद को स्वीकार करने का अर्थ यह है कि इन सब विषयों में शुष्क तर्क की अपेक्षा आध्यात्मिक अनुभव से अधिक प्रकाश मिलता है।
- भाव से निकाला हुआ संशयवाद विश्वास को उसकी स्वाभाविक नीवों पर जमाने में सहायक होता है। नीवों को अधिक गहराई में डालने की आवश्यकता का ही परिणाम महान् दार्शनिक हलचल के रूप में प्रकट हुआ, जिसने छः दर्शनों को जन्म दिया जिनमें काव्य तथा धर्म का स्थान विश्लेषण और शुष्क समीक्षा ने लिया फलतः रूढ़िवादी सम्प्रदाय अपने विचारों को संहिताबद्ध करने तथा उसकी रक्षा के लिए तार्किक प्रमाणों का आश्रय लेने को बाध्य हो गए। दर्शनशास्त्र का समीक्षात्मक पक्ष उतना ही महत्त्वपूर्ण हो गया है कि जितना कि अभी तक प्रकल्पनात्मक पक्ष था। दर्शनकाल से पूर्व के दार्शनिक मतों द्वारा अखण्ड विश्व के सम्बन्ध में कुछ सामान्य विचार तो अवश्य प्राप्त हुए थे, किन्तु यह अनुभव नहीं हो पाया था कि किसी भी सफल कल्पना का आधार ज्ञान का एक समीक्षात्मक सिद्धान्त ही होना चाहिए।
- किसी दिव्य ज्ञान के सहारे वास्तविकता को सिद्ध न करें, बल्कि ऐसी स्वाभाविक पद्धतियों द्वारा सिद्ध करें जो जीवन और अनुभव पर आधारित हों, कुछ ऐसे विश्वासों के लिए, जिनकी हम रक्षा करना चाहते हैं, हमारा मापदण्ड शिथिल नहीं होना चाहिए। इस प्रकार आत्मविद्या अर्थात् दर्शन को अब आन्वीक्षिकी अर्थात् अनुसंधानरूपी विज्ञान का सहारा मिल गया। दार्शनिक विचारों का तर्क की कसौटी पर इस प्रकार कसा जाना स्वाभावतः कट्टरतावादियों को रुचिकर नहीं हुआ। श्रद्धालुओं को यह निश्चित ही निर्जीव लगा होगा, क्योंकि अंतः प्रेरणा के स्थान पर अब आलोचनात्मक तर्क आ गया था। चिन्तन की उस शक्ति का स्थान जो सीधी जीवन और अनुभव से फूटती है, जैसी कि उपनिषदों में, और आत्मा की उस अलौकिक महानता

का स्थान जो परब्रह्म का दर्शन और वर्णन करती है, जैसा कि भगवद्गीता में है, कठोर दर्शन ले लेता है। इसके अतिरिक्त, तर्क की कसौटी पर पुरानी मान्यताएं निश्चित ही खरी उतर सकेंगी यह भी निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता था। इतने पर भी उस युग की सर्वमान्य भावना का आग्रह था कि प्रत्येक ऐसी विचारधारा को, जो तर्क की कसौटी पर खरी उतर सके 'दर्शन' के नाम के ग्रहण करना चाहिए। इसी कारण उन तभी तर्कसम्मत प्रयासों को दर्शन की संज्ञा दी गई जो विश्व के सम्बन्ध में फैली विभिन्न बिखरी हुई धारणाओं को कुछ महान् व्यापक विचारों में समेटने के लिए किए गए। ये समस्त प्रयास हमें सत्य के किसी अंश को अनुभव कराने में सहायक सिद्ध होते हैं। इससे यह विचार बना कि प्रकट रूप में पृथक् प्रतीत होते हुए भी, ये सब दर्शन वस्तुतः एक ही बृहत् ऐतिहासिक योजना के अंग हैं। और जब तक हम इन्हें स्वतन्त्र समझते रहेंगे, तथा ऐतिहासिक समन्वय में इनकी स्थिति पर ध्यान नहीं देंगे, तब हम इनकी वास्तविकता को पूर्णरूप से हृदयंगम नहीं कर सकते।

- तर्क की कसौटी को स्वीकार कर लेने पर काल्पनिक मान्यताओं के प्रचारकों का विरोध नरम पड़ गया और उससे यह स्पष्ट हो गया कि उनका आधार उतना सशक्त व सुदृढ़ नहीं था और उन विचारधाराओं को दर्शन का नाम देना भी ठीक नहीं था। किन्तु भौतिकतावादियों, संशयवादियों और कतिपय बौद्ध धर्मानुयायियों के अतिरिक्त उत्साह ने निश्चयात्मक ज्ञान के आधार को ही नष्ट कर दिया। भारतीय मानस इस निषेधात्मक परिणाम को कभी शांति से ग्रहण नहीं कर पाया। मनुष्य संशयवादी रह कर जीवन निर्वाह नहीं कर सकता। निरे बौद्धिक द्वन्द से ही काम नहीं चल सकता। वाद-विवाद का स्वाद मानव की आत्मिक भूख को शान्त नहीं कर सकता। ऐसे शुष्क तर्क से कुछ लाभ नहीं जो हमें किसी सत्य तक न पहुँचा सके। यह असम्भव था कि उपनिषदों के ऋषियों जैसे आत्मनिष्ठ महात्माओं की आशाएँ और महत्वकांक्षाएँ, तार्किक समर्थन के अभाव में यों ही नष्ट नहीं हो जाती। और यह भी असंभव था कि शताब्दियों के संघर्ष और चिंतन से भी मानव समस्या के समाधान की दिशा में कुछ आगे न जाता। एक मात्र निराशा में ही उसका अन्त नहीं होने दिया जा सकता।
- तर्क को भी अन्ततोगत्वा श्रद्धा का ही आश्रय ढूंढ़ना पड़ता है। उपनिषदों के

ऋषि महान शिक्षक हैं। वे हमारे आगे ब्रह्मज्ञान व आध्यात्मिक जीवन की सुन्दर व्याख्या रखते हैं। यदि निरे तर्क से मानव यथार्थ सत्य की प्राप्ति नहीं कर सकता तो निश्चय ही उसे उन ऋषियों के महान लेखों की सहायता प्राप्त करनी चाहिए, जिन्होंने आध्यात्मिक ध्रुव सत्य को प्राप्त करने का दावा किया है। इस प्रकार जो कुछ श्रद्धा के द्वारा स्वीकार किया गया था उसकी वास्तविकता को तर्क द्वारा सिद्ध करने के प्रबल प्रयास किए गए। यह ढंग बुद्धिसंगत नहीं हो, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि दर्शन उस प्रयास का ही दूसरा नाम है जो मानव समाज के बढ़ते हुए अनुभव की व्याख्या के लिए किया जाता है। किन्तु जिस खतरे से हमें सावधान रहना होगा वह यह है कि कहीं श्रद्धा को ही दार्शनिक विज्ञान का परिणाम स्वीकार न कर लिया जाए।

षड्दर्शन उन भारतीय दार्शनिक एवं धार्मिक विचारों के मंथन का परिपक्व परिणाम है जो हजारों वर्षो के चिन्तन से उतरा और हिन्दू (वैदिक) दर्शन के नाम से प्रचलित हुआ। इन्हें आस्तिक दर्शन भी कहा जाता है। दर्शन और उनके प्रणेता निम्नलिखित है :

1. पूर्व मीमांसा: महिर्ष जैमिनी
2. वेदान्त (उत्तर मीमांसा): महिर्ष बादरायण
3. सांख्य: महिर्ष कपिल
4. वैशेषिक: महिर्ष कणाद
5. न्याय: महिर्ष गौतम
6. योग: महिर्ष पतंजलि

वेद ज्ञान को समझने व समझाने के लिए दो प्रयास हुए:

1. दर्शनशास्त्र
2. ब्राह्मण और उपनिषदादि ग्रन्थ।

ब्राह्मण और उपनिषदादि ग्रन्थों में अपने-अपने विषय के आप्त ज्ञाताओं द्वारा अपने शिष्यों, श्रद्धावान व जिज्ञासु लोगों की मूल वैदिक ज्ञान को व्यावहारिक भाषा में विस्तार से समझाया है। यह ऐसे ही है जैसे आज के युग में आइन्सटाइन को सापेक्षता का सिद्धान्त (Theory of Relatively) व अन्य विषयों का आप्त ज्ञाता माना जाता है तथा उसके कथनों व लेखों को अधिकांश लोग, बगैर

ज्यादा अन्य प्रमाण के सत्य मान लेते हैं। लेकिन कुछ लोग ऐसे भी है जो कि आइन्सटाइन की इन विषयों में सिद्धहस्त (आप्तता) पर संदेह करते हैं, उनको समझाने के लिए तर्क (Logic) की आवश्यकता है। इसी तरह वेद ज्ञान को तर्क से समझाने के लिए छः दर्शन शास्त्र लिखे गये। सभी दर्शन मूल वेद ज्ञान को तर्क से सिद्ध करते है। प्रत्येक दर्शन शास्त्र का अपना-अपना विषय है। यह उसी तरह है जैसे कि भौतिक विज्ञान (Physics) में Newtonian Physics, Maganetism Atomi Physics, इत्यादि है। दर्शन शास्त्र मूलतः सूत्र रूप में लिखे गये हैं। प्रत्येक दर्शन अपने लिखने का उद्देश्य अपने प्रथम सूत्र में ही लिख तथा अन्त में अपने उद्देश्य की पूर्ति का सूत्र देता है।

वैदिक ज्ञान की अद्वितीय पुस्तक भगवद्गीता के ज्ञान का आधार वेद, उपनिषद और दर्शन शास्त्र ही है।

भगवद्गीता 2-39 और 13-4 में कहा है कि :

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रुणु।
बुद्धया युक्तो यथा पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।।

हे अर्जुन! यह बुद्धि(ज्ञान) जो सांख्य के अनुसार मैंने तुझे कही है, अब यही बुद्धि मैं तुझे योग के अनुसार कहूँगा, जिसके ज्ञान से तू कर्म-बन्धन को नष्ट कर सकेगा।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः।।

इस क्षेत्र (शरीर) और क्षेत्रज्ञ (शरीरी आत्मा) के विषय में ऋषियों ने वेदों ने विविध भाँति से समझाया है। (इन्हीं के विषय) में ब्रह्मसूत्रों में पृथक्-पृथक् (शरीर जीवात्मा और परमात्मा के विषय में) युक्तियुक्त ढंग से (तर्क से) कथन किया गया है।

पूर्व मीमांसा

मीमांसा शब्द का अर्थ (पाणिनि के अनुसार) जिज्ञासा है। जिज्ञासा अर्थात् जानने की लालसा।

अतः पूर्व-मीमांसा शब्द का अर्थ है जानने की प्रथम जिज्ञासा। मीमांसा सूत्र इस दर्शन का आधार ग्रंथ है। इसके सोलह अध्याय हैं।

मनुष्य जब इस संसार में अवतरित हुआ उसकी प्रथम जिज्ञासा यही रही थी कि वह क्या करे? अतएव इस दर्शनशास्त्र का प्रथम सूत्र मनुष्य की इस इच्छा का प्रतीक है।

इस दर्शन के प्रवर्तक महर्षि जैमिनी है। इस ग्रन्थ में 12 अध्याय, 60 पाद और 2,631 सूत्र है।

ग्रन्थ का आरम्भ ही महर्षि जैमिनि इस प्रकार करते हैं-

अथातो धर्मजिज्ञासा।।

अब धर्म करणीय कर्म को जानने की जिज्ञासा है। इस जिज्ञासा का उत्तर देने के लिए यह पूर्ण 16 अध्याय वाला ग्रन्थ रचा गया है।

कर्म एक व्यापक अर्थवाला शब्द है। अत: इसके विषय में 16 अध्याय और 64 पादोंवाला ग्रन्थ लिखना उचित ही प्रतीत होता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मीमांसासूत्र के सोलह अध्यायों में से पहले बारह अध्याय 'पूर्वमीमांसा' और शेष चार अध्याय 'उत्तरमीमांसा' कहलाते हैं। किन्तु सामान्य समझ में चार अध्यायों वाला ब्रह्मसूत्र है जिसे जोड़कर सोलह अध्याय कहा गया है।

यहाँ हम इस ग्रन्थ की झलक मात्र भी देने में असमर्थ हैं। केवल इतना बता देना ही पर्याप्त समझते हैं कि धर्म की व्याख्या यजुर्वेद में की गयी है। वेद के प्रारम्भ में ही यज्ञ की महिमा का वर्णन है। वैदिक परिपाटी में यज्ञ का अर्थ देव-यज्ञ ही नहीं है, वरन् इसमें मनुष्य के प्रत्येक प्रकार के कार्यों का समावेश हो जाता है।

दृष्टान्त के लिए, बढ़ई जब वृक्ष की लकड़ी से कुर्सी अथवा मेज बनाता है तो वह यज्ञ ही करता है। वृक्ष का तना जो मूल रूप में ईधन के अतिरिक्त, किसी भी उपयोगी काम का नहीं होता, उसे बढ़ई ने उपकारी रूप देकर मानव का कल्याण किया है। अत: बढ़ई का कार्य यज्ञरूप ही है।

एक अन्य उदाहरण ले सकते हैं। कच्चे लौह को लेकर योग्य वैज्ञानिक और कुशल शिल्पी एक सुन्दर कपड़ा सीने की मशीन बना देते हैं। इस कार्य से मानव का कल्याण हुआ। इस कारण यह भी यज्ञरूप है।

सभी प्रकार के कर्मों की व्याख्या इस दर्शन शास्त्र में है।

ज्ञान उपलब्धि के जिन छह साधनों (प्रमाणों) की चर्चा इसमें की गई है, वे है-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। मीमांसा दर्शन के अनुसार वेद अपौरूषेय, नित्य एवं सर्वोपरि है और वेद-प्रतिपादित अर्थ को ही धर्म कहा गया है।

मीमांसा सिद्धान्त में वक्तव्य के दो विभाग है- पहला है अपरिहार्य विधि जिसमें उत्पत्ति, विनियोग, प्रयोग और अधिकार विधियां शामिल है। दूसरा विभाग है अर्थवाद जिसमें स्तुति और व्याख्या की प्रधानता है।

मीमांसासूत्र की समझ को लेकर कालान्तर में कई उपसंप्रदाय बन गए। कुमारिल भट्ट, प्रभाकर मिश्र, मुरारिमिश्र आदि विद्वान् इस परंपरा के प्रमुख व्याख्याकार हैं।

उत्तर मीमांसा (वेदान्त)

जब मनुष्य जीवन-यापन करने लगता है तो उसके मन में दूसरी जिज्ञासा जो उठती है, वह है ब्रह्म-जिज्ञासा। ब्रह्मसूत्र का प्रथम सूत्र ही है-

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।।

अर्थात् ब्रह्म के जानने की लालसा।

इस जिज्ञासा का चित्रण श्वेताश्वर उपनिषद् में भली-भाँति किया गया हैं। उपनिषद् का प्रथम मंत्र है- **ब्रह्मवादिनो वदन्ति-**

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्।।

अर्थ-ब्रह्म का वर्णन करने वाले कहते हैं, इस (जगत्) का कारण क्या है, इस (जगत्) का कारण क्या है? हम कहाँ से उत्पन्न है? कहाँ स्थित है? (कैसे स्थित है?)यह सुख-दुःख क्यों होता है? ब्रह्म की जिज्ञासा करने वाला यह जानने चाहते हैं। उत्पन्न हुआ कि यह सब क्या है, क्यों हैं? इत्यादि।

पहली जिज्ञासा कर्म धर्म की जिज्ञासा थी और दूसरी जिज्ञासा जगत् का मूल कारण जानने की थी।

इस दूसरी जिज्ञासा का उत्तर ही ब्रह्मसूत्र अर्थात् उत्तर मीमांसा है। चूँकि यह दर्शन वेद के परम ओर अन्तिम तात्पर्य का दिग्दर्शन कराता है, इसलिए इसे वेदान्त दर्शन के नाम से ही जाना जाता है।

वेदस्य अन्तः अन्तिमो भाग इति वेदान्त।। यह वेद के अन्त अर्थात अन्तिम ध्येय और कार्य क्षेत्र की शिक्षा देता है।

ब्रह्मसूत्र के रचयिता महर्षि बादरायण है। ब्रह्मसूत्र के चार अध्याय, प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद (कुल 16 पाद) और सूत्रों की संख्या 555 है।

इसमें बताया गया है कि तीन ब्रह्म अर्थात् मूल पदार्थ है- प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा। तीनों अनादि है। इनका आदि-अन्त नहीं। तीनों ब्रह्म कहलाते हैं और जिसमें ये तीनो विद्यमान है अर्थात् जगत् वह परम ब्रह्म है।

प्रकृति जो जगत् का उपादान कारण है, परमाणुरूप है जो त्रित (तीन शक्तियो- सत्त्व, रजस् और तमस् का समूह) है। इन तीनों अनादि पदार्थों का वर्णन ब्रह्मसूत्र (उत्तर मीमांसा) में है।

जीवात्मा का वर्णन करते हुए इसके जन्म-मरण के बन्धन में आने का वर्णन भी ब्रह्मसूत्र में है। साथ ही मरण-जन्म से छुटकारा पाने का भी वर्णन है।

परमात्मा जो अपने शाश्वत रूप में तत्त्वों से संयुक्त होकर भासता है, परन्तु उसका अपना शुद्ध रूप नेति-नेति शब्दों से ही व्यक्त होता है।

यह दर्शन भी वेद के कहे मन्त्रों की व्याख्या में ही है।

वेदान्त का अर्थ है- वेद का अन्त या सिद्धान्त। तात्पर्य यह है- 'वह शास्त्र जिसके लिए उपनिषद् ही प्रमाण है। वेदांत में जितनी बातों का उल्लेख है, उन सब का मूल उपनिषद् है। इसलिए वेदान्त शास्त्र के वे ही सिद्धान्त माननीय हैं, जिसके साधक उपनिषद् के वाक्य हैं। इन्हीं उपनिषदों को आधार बनाकर बादरायण मुनि ने ब्रह्मसूत्रों की रचना की।' इन सूत्रों का मूल उपनिषदों में हैं। जैसा पूर्व में कहा गया है- उपनिषद् में सभी दर्शनों के मूल सिद्धान्त हैं।

वेदान्त का साहित्य

ब्रह्मसूत्र- उपरिवर्णित विवेचन से स्पष्ट है कि वेदान्त का मूल ग्रन्थ उपनिषद ही है। अत: यदा-कदा वेदान्त शब्द उपनिषद् का वाचक बनता दृष्टिगोचर होता है। उपनिषदीय मूल वाक्यों के आधार पर ही बादरायण द्वारा वेदान्त के प्रतिपादन हेतु ब्रह्मसूत्र सृजित किया गया। महर्षि पाणिनी द्वारा अष्टाध्यायी में उल्लेखित 'भिक्षुसूत्र' ही वस्तुत: ब्रह्मसूत्र है। संन्यासी, भिक्षु कहलाते हैं एवं उन्हीं के अध्ययन योग्य उपनिषदों पर आधारिक पराशर्य (पराशर पुत्र व्यास) द्वारा विरचित ब्रह्म सूत्र है, जो कि बहुत प्राचीन है।

यही उत्तर मीमांसा वेदांत दर्शन के नाम से प्रख्यात है। महर्षि जैमिनि का मीमांसा दर्शन पूर्व मीमांसा कहलाता है, जो कि द्वादश अध्यायों में आबद्ध है। कहा जाता है कि जैमिनि द्वारा इन द्वादश अध्यायों के पश्चात् चार अध्यायों में संकर्षण काण्ड का सृजन किया था। जो अब अनुपलब्ध है, इस प्रकार मीमांसा षोडश अध्यायों में सम्पन्न हुआ है। उसी सिलसिले में चार अध्यायों में उत्तर मीमांसा या ब्रह्म-सूत्र का सृजन हुआ। इन दोनों ग्रन्थों में अनेक आचार्यों का नामोल्लेख हुआ है। इससे ऐसा अनुमान होता है कि बीस अध्यायों के रचनाकार कोई एक व्यक्ति थे, चाहे वे महर्षि जैमिनि हों अथवा बादरायण बादरि। पूर्व मीमांसा में कर्मकाण्ड एवं उत्तर मीमांसा में ज्ञानकाण्ड विवेचित है। उन दिनों विद्यमान समस्त आचार्य पूर्व एवं मीमांसा के समान रूपेण विद्वान् थे। इसी कारण जिनके नामों का उल्लेख जैमिनीय सूत्र में है, उन्हीं का ब्रह्मसूत्र में भी है। वेदान्त संबंधी साहित्य प्रचुर मात्रा में विद्यमान है, जिसका उल्लेख अग्रिम पृष्ठों पर 'वेदान्त का अन्य साहित्य और आचार्य परम्परा' उपखण्ड में आचार्यों के नामों सहित विवेचित किया गया है।

वेदान्त दर्शन का स्वरूप और प्रतिपाद्य-विषय

'वेदों' के सर्वमान्य, सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त ही 'वेदान्त' का प्रतिपाद्य हैं। उपनिषदों में ही ये सिद्धान्त मुख्यत: प्रतिपादित हुए हैं, इसलिए वे ही 'वेदान्त' के पर्याय माने जाते हैं। परमात्मा का परम गुह्य ज्ञान वेदान्त के रूप में सर्वप्रथम उपनिषदों में ही प्रकट हुआ है। 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था:.....' (मुण्डक.)। 'वेदान्ते परमं गुह्यम् पुराकल्पे प्रचोदितम्' (श्वेताश्वतर.) 'यो वेदादौ स्वर: प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठित:' (महानारायण) इत्यादि श्रुतिवचन उसी तथ्य का डिंडिम घोष करते हैं। इन श्रुति वचनों का सारांश इतना ही है कि संसार में जो कुछ भी दृश्यमान है और जहाँ तक हमारी बुद्धि अनुमान कर सकती है, उन सबका का मूल स्रोत एकमात्र 'परब्रह्म' ही है।

इस प्रकार ब्रह्मसूत्र प्रमुखतया ब्रह्म के स्वरूप को विवेचित करता है एवं इसी के संबंध से उसमें जीव एवं प्रकृति के संबंध में भी विचार प्रकट किया गया है। यह दर्शन चार अध्यायों एवं सोलह पादों में विभक्त है। इनका प्रतिपाद्य क्रमश: निम्नलिखित है-

1. प्रथम अध्याय में वेदान्त से संबंधित समस्त वाक्यों का मुख्य आशय प्रकट

करके उन समस्त विचारों को समन्वित किया गया है, जो बाहर से देखने पर परस्पर भिन्न एवं अनेक स्थलों पर तो विरोधी भी प्रतीत होते हैं। प्रथम पाद में वे वाक्य दिये गये हैं, जिनमें ब्रह्म का स्पष्टतया कथन है, द्वितीय में वे वाक्य हैं, जिनमें ब्रह्म का स्पष्ट कथन नहीं है एवं अभिप्राय उसकी उपासना से है। तृतीय में वे वाक्य समाविष्ट हैं, जिनमें ज्ञान रूप में ब्रह्म का वर्णन है। चतुर्थ पाद में विविध प्रकार के विचारों एवं संदिग्ध भावों से पूर्ण वाक्यों पर विचार किया गया है।

2. द्वितीय अध्याय का विषय 'अविरोध' है। इसके अन्तर्गत श्रुतियों की जो परस्पर विरोधी सम्मतियाँ हैं, उनका मूल आशय प्रकट करके उनके द्वारा अद्वैत सिद्धान्त की सिद्धि की गयी है। इसके साथ ही वैदिक मतों (सांख्य, वैशेषिक, पाशुपत आदि) एवं अवैदिक सिद्धान्तों (जैन, बौद्ध आदि) के दोषों एवं उनकी अयथार्थता को दर्शाया गया है। आगे चलकर लिंग शरीर प्राण एवं इन्द्रियों के स्वरूप दिग्दर्शन के साथ पंचभूत एवं जीव से सम्बद्ध शंकाओं का निराकरण भी किया गया है।

3. तृतीय अध्याय की विषय वस्तु साधना है। इसके अन्तर्गत प्रथमत: स्वर्गादि प्राप्ति के साधनों के दोष दिखाकर ज्ञान एवं विद्या के वास्तविक स्रोत परमात्मा की उपासना प्रतिपादित की गयी है, जिसके द्वारा जीव ब्रह्म की प्राप्ति कर सकता है। इस उद्देश्य की पूर्ति में कर्मकाण्ड सिद्धान्त के अनुसार मात्र अग्निहोत्र आदि पर्याप्त नहीं वरन् ज्ञान एवं भक्ति द्वारा ही आत्मा और परमात्मा का सान्निध्य सम्भव है।

4. चतुर्थ अध्याय साधना का परिणाम होने से फलाध्याय है। इसके अन्तर्गत वायु, विद्युत एवं वरुण लोक से उच्च लोक–ब्रह्मलोक तक पहुँचने का वर्णन है, साथ ही जीव की मुक्ति, जीवन्मुक्त की मृत्यु एवं परलोक में उसकी गति आदि भी वर्णित है। अन्त में यह भी वर्णित है कि ब्रह्म की प्राप्ति होने से आत्मा की स्थिति किस प्रकार की होती है, जिससे वह पुन: संसार में आगमन नहीं करती। मुक्ति और निर्वाण की अवस्था यही है। इस प्रकार वेदान्त दर्शन में ईश्वर, प्रकृति, जीव, मरणोत्तर दशाएँ, पुनर्जन्म, ज्ञान, कर्म, उपासना, बन्धन एवं मोक्ष इन दस विषयों का प्रमुख रूप से विवेचन किया गया है।

वेदान्त का अन्य साहित्य और आचार्य परम्परा

ब्रह्मसूत्र के अतिरिक्त वेदान्त दर्शन का और भी साहित्य प्रचुर मात्रा में संप्राप्त होता है, जो विभिन्न आचार्यों ने विविध प्रकारेण ब्रह्म-सूत्र आदि ग्रन्थों पर भाष्य, वृत्तियाँ टीकाएँ आदि लिखी हैं। यद्यपि प्राचीन आचार्यों में बादरि, आश्मरथ्य, आत्रेय, काशकृत्स्न, औडुलोमि एवं कार्ष्णाजिनि आजि के मतों का भी वर्णन प्राप्त है; किन्तु इनके ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। आइये जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनका व उनके आचार्यों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करें।

1. **आद्य शंकराचार्य**- ब्रह्म-सूत्र पर सर्वप्राचीन एवं प्रामाणिक भाष्य आदि शंकराचार्य का उपलब्ध होता है। यह शांकरभाष्य के नाम से प्रख्यात है। विश्व में भारतीय दर्शन एवं शंकराचार्य के नाम से जितनी ख्याति प्राप्त की है, उतनी न किसी आचार्य ने प्राप्त की और न ग्रन्थ ने। शंकराचार्य का जन्म 788 ई. में तथा निर्वाण 820 ई. में हुआ बताया जाता है, इनके गुरु गोविन्दपाद तथा परम गुरु गौड़पादाचार्य थे। इनके ग्रन्थों में ब्रह्मसूत्र-भाष्य (शारीरक भाष्य), एकादशोपनिषद् भाष्य, गीता-भाष्य, माण्डूक्यकारिका भाष्य, विवेकचूड़ामणि, उपदेश-साहस्री आदि प्रमुख हैं।
2. **भास्कराचार्य**- आचार्य शंकर के समकालीन भास्कराचार्य त्रिदण्डीमत के वेदन्ती थे। ये ज्ञान एवं कर्म दोनों से मोक्ष स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार ब्रह्म के शक्ति-विक्षेप से ही सृष्टि और स्थिति व्यापार अनवरत चलता है। इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर एक लघु भाष्य लिखा है।
3. **सर्वज्ञात्म मुनि**- ये सुरेश्वराचार्य के शिष्य थे, जिन्होंने ब्रह्मसूत्र पर एक पद्यात्मक व्याख्या लिखी है, जो 'संक्षेप-शारीरक' नाम से प्रसिद्ध है।
4. **अद्वैतानन्द**- ये रामानन्द तीर्थ के शिष्य थे, इन्होंने शंकराचार्य की शारीरक भाष्य पर 'ब्रह्मविद्याभरण' नामक श्रेष्ठ व्याख्या लिखी है।
5. **वाचस्पति मिश्र**- वाचस्पति मिश्र ने भी शांकर-भाष्य पर 'भामती' नामक उत्तम व्याख्या ग्रन्थ लिखा है। 'ब्रह्मतत्त्व समीक्षा' नामक वेदान्त ग्रन्थ इन्हीं का है।
6. **चित्सुखाचार्य**- तेरहवीं सदी के चित्सुखाचार्य ने वेदान्त का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'तत्त्व-दीपिका' नाम से लिखा, जिसने उन्हीं के नाम से 'चित्सुखी' के रूप में विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की।

7. **विद्यारण्य स्वामी**– श्रृंगेरी पीठ के प्रतिष्ठित यति श्री विद्यारण्य स्वामी ने वेदान्त विषयक कई ग्रन्थ लिखे, जिनमें 'पंचदशी' का विशेष स्थान है। इनके अन्य ग्रन्थ हैं– जीवन्मुक्ति विवेक, विवरण प्रमेय संग्रह, बृहदारण्यक वार्तिक सार आदि।
8. **प्रकाशात्मा**– इन्होंने पद्मपादकृत पंचपादिका पर 'विवरण' नाम की व्याख्या का सृजन किया है। इसी के आधार पर 'भामती प्रस्थान' से पृथक् 'विवरण प्रस्थान' निर्मित हुआ है।
9. **अमलानन्द**– अमलानन्द (जो अनुभवानन्द के शिष्य थे) ने भामती पर 'कल्पतरु' नामक व्याख्या एवं ब्रह्मसूत्र पर एक वृत्ति भी लिखी है। इसका अपर नाम 'व्यासाश्रम' था।

वेदांत के इन अनेक संप्रदायों में शंकराचार्य का अद्वैतमत सबसे प्राचीन है। यह संभवत: सबसे अधिक प्रतिष्ठित भी है। शंकराचार्य का अद्वैतवाद उपनिषदों पर आश्रित है। उनके अनुसार ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है। अविद्या जगत् का विक्षेप और जीव के ब्रह्मभाव का आवरण करती है। अज्ञान का निवारण होने पर जीव को अपने ब्रह्मभाव का साक्षात्कार होता है। यही मोक्ष है। ब्रह्म सच्चिदानंद है। ब्रह्म की सत्ता और चेतना तथा उसका आनंद अनंत है। जागृत, स्वप्न और सुषुप्त की अवस्थाओं से परे तथा बाह्य और आंतरिक विषयों से अतीत अनुभव में ब्रह्म का प्रकाश होता है। विषयातीत होने के कारण ब्रह्म अनिर्वचनीय है। संख्यातीत होने के कारण उसे 'अद्वैत' कहा जाता है। त्याग और प्रेम के व्यवहारों में यह अद्वैत भाव विभासित होता है। समाधि में इसका आंतरिक साक्षात्कार होता है। अद्वैत भाव को सिद्ध करने के लिए ब्रह्म को जगत् का कारण माना गया है। ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानकर दोनों का अद्वैत सिद्ध हो जाता है। उपादान के परिणाम की आशंका को विवर्तवाद के द्वारा दूर किया गया है। विवर्तकारण अविकार्य होता है। उसका कार्य मिथ्या होता है जैसे रज्जु में सर्प का भ्रम। रज्जु सर्प और स्वप्न प्रातिभासिक सत्य हैं। जगत् व्यावहारिक सत्य है। मोक्ष पर्यंत वह मान्य है। ब्रह्म ही पारमार्थिक सत्य है जो मोक्ष में शेष रह जाता है। माया से युक्त ब्रह्म 'ईश्वर' कहलाता है। वह सृष्टि का कर्ता है किंतु वह पारमार्थिक सत्य नहीं है। ब्रह्मानुभव का साधन ज्ञान है। कर्म के साध्य शाश्वत नहीं होते। 'ब्रह्म' कर्म के द्वारा साध्य नहीं है। कर्म और भक्ति मोक्ष के सहकारी कारण हैं। श्रवण, मनन

और निदिध्यासन मोक्षसाधना के तीन चरण हैं। मोक्ष में आत्मा समस्त बंधनों से मुक्त हो जाती है और अनंत आनंद से आप्लावित रहती है। यह मोक्ष जीवनकाल में प्राप्य है तथा जीवन के व्यवहार से इसकी पूर्ण संगति है।

शंकराचार्य के लगभग 300 वर्ष बाद 11वीं शताब्दी में रामानुजाचार्य ने ब्रह्मसूत्रों की नवीन व्याख्या के आधार पर विशिष्टाद्वैत मत की स्थापना की। रामानुजकृत 'श्रीभाष्य' के आधार पर यह 'श्रीसंप्रदाय' कहलाता है। रामानुज शंकर के मायावाद को नहीं मानते। उनके अनुसार जीव, जगत् और ब्रह्म तीनों पारमार्थिक सत्य हैं। जगत् ब्रह्म का विवर्त नहीं वरन् ब्रह्म की वास्तविक रचना है। ब्रह्म और ईश्वर एक दूसरे के पर्याय हैं। जीव ब्रह्म का अंश है। मोक्ष में जगत् का विलय नहीं होता और जीव का स्वतंत्र अस्तित्व बना रहता है। ब्रह्म निर्विशेष और निर्गुण नहीं वरन् सविशेष और सगुण है। ब्रह्म ही स्वतंत्र सत्ता है। जीव और जगत् उसके अपृथक्सिद्ध विशेषण हैं। ब्रह्म से पृथक् उनका अस्तित्व संभव नहीं है। अत: रामानुज का मत भी अद्वैत ही है। जीव और जगत् के विशेषणों से युक्त ब्रह्म का इनके सथ विशिष्ट अद्वैतभाव है। ब्रह्म इनका अंतर्यामी स्वामी है। रामानुज के मत में भक्ति मोक्ष का मुख्य साधन है। भगवान के गुणों का ज्ञान भक्ति का प्रेरक है। साधारण जन के लिए प्रपत्ति अर्थात् शरणागति सर्वोत्तम मार्ग हैं।

रामानुज के कुछ वर्ष बाद 11वीं शताब्दी में ही निंबार्काचार्य ने द्वैताद्वैत मत की प्रतिष्ठा की। ब्रह्मसूत्रों पर 'वेदांत-पारिजात-सौरभ' नाम से उनका भाष्य इस मत का आधार है। रामानुज के समान निंबार्क भी जीव और जगत् को सत्य तथा ब्रह्म का आश्रित मानते हैं। रामानुज के मत में अद्वैत प्रधान है। निंबार्क मत में द्वैत का अनुरोध अधिक है। रामानुज के अनुसार जीव और ब्रह्म में स्वरूपगत साम्य है, उनकी शक्ति में भेद हैं। निंबार्क के मत में उनमें स्वरूपगत भेद है। निंबार्क के अद्वैत का आधार जीव की ब्रह्म पर निर्भरता है। निंबार्क का ब्रह्म सगुण ईश्वर है। कृष्ण के रूप में उसकी भक्ति ही मोक्ष का परम मार्ग है। यह भक्ति भगवान के अनुग्रह से प्राप्त होती है। भक्ति से भगवान का साक्षात्कार होता है। यही मोक्ष है। रामानुज और निंबार्क दोनों के मत में विदेह मुक्ति ही मान्य है।

निंबार्क के बाद 13वीं शताब्दी में मध्वाचार्य ने द्वैत मत का प्रतिपादन किया। वे पूर्णप्रज्ञ तथा आनंदतीर्थ के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। उन्होंने शंकराचार्य के अद्वैत और निंबार्क के द्वैताद्वैत का खंडन करके द्वैतवाद की स्थापना की है। उनके

अनुसार भेद और अभेद दोनों की एकत्र स्थिति संभव नहीं है। शंकराचार्य का मायावाद भी उन्हें मान्य नहीं है। जगत् मिथ्या नहीं यथार्थ है। सत् और असत् से भिन्न माया की तीसरी अनिर्वचनीय कोटि संभव नहीं है। ईश्वर, जीव और जगत् तीनों एक दूसरे से भिन्न हैं। भेद के पाँच प्रकार हैं। ईश्वर-जीव, ईश्वर-जगत्, जीव-जगत्, जीव-जीव और जड़-पदार्थों में परस्पर भेद है। ईश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं, निमित्त कारण है। उपादान करण प्रकृति है। ईश्वर उसका नियामक है। ईश्वर की भक्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है। मुक्त जीवों में परस्पर भेद रहता है। वे ईश्वर से भिन्न रहकर अपनी सामर्थ्य के अनुसार ईश्वर की विभूति में भाग लेते हैं।

15वीं शताब्दी में वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत मत का प्रचार किया। इस मत का आधार 'ब्रह्मसूत्रों' पर लिखित वल्लभाचार्य का 'अणुभाष्य' है। वे माया से अलिप्त शुद्ध ब्रह्म का अद्वैत भाव मानते हैं। यह ब्रह्म निर्गुण नहीं, सगुण है तथा माया के संबंध से रहित है। ब्रह्म अपनी अनंत शक्ति से जगत् के रूप में व्यक्त होता है। चित् और आनंद का तिरोधान होने के कारण जगत् में केवल सत् रूप से ब्रह्म की अभिव्यक्ति होती है। जीव और ब्रह्म स्वरूप से एक हैं। अग्नि के स्फुल्लिंगों की भांति जीव ब्रह्म का अंश है, विशेषण नहीं। इस प्रकार सर्वत्र अद्वैत है, कहीं भी द्वैत नहीं। मर्यादा और पुष्टि दो प्रकार की भक्ति मोक्ष का साधन हैं।

16वीं शताब्दी में चैतन्य महाप्रभु ने अचिंत्यभेदाभेद का प्रवर्तन किया। उनके शिष्य रूप गोस्वामी ने गौडीय वैष्णव संप्रदाय का प्रतिष्ठापन किया। इनके अनुसार भगवान की शक्ति अचिंत्य है। वह विरोधी गुणों का समन्वय कर सकती है। भेदाभेद का चिंतन न करके मोक्ष की साधना करना ही जीवन का धर्म है। मोक्ष का अर्थ भगवान की प्रीति का निरंतर अनुभव है।

इस प्रकार वैदिक युग के उत्तरकाल में उपनिषदों में जिस वेदांत का उदय हुआ उसका नवीन उत्थान सातवीं शताब्दी से लेकर 16वीं शताब्दी तक अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत आदि संप्रदायों के रूप में हुआ। उपनिषदों का वेदांत पश्चिमी और उत्तरी भारत की देन है। अद्वैत आदि संप्रदायों का उदय दक्षिण से हुआ। इनके प्रवर्तक दक्षिण देशों के निवासी थे। चैतन्य का मत बंगाल से उदित हुआ। किंतु इन सभी संप्रदायों ने वृदांवन आदि उत्तरी स्थानों में अपने पीठ बनाए। शंकराचार्य ने देश के चारों कोनों पर पीठ स्थापित किए। उत्तर, दक्षिण,

पूर्व, पश्चिम सभी प्रदेशों के लोग इन संप्रदायों में सम्मिलित हुए। सिद्धांत में भिन्न होते हुए भी वेदांत के ये विभिन्न संप्रदाय भारतवर्ष की आंतरिक एकता के सूत्र बने।

सांख्य दर्शन

सांख्यमत सृष्टि रचना की व्याख्या एवं प्रकृति और पुरूष की पृथक–पृथक व्याख्या करता है। सांख्य सर्वाधिक पौराणिक दर्शन माना जाता है। भारतीय समाज पर इसका इतना व्यापक प्रभाव हो चुका था कि महाभारत (श्रीमद्भगवद्गीता), विभिन्न पुराणों, उपनिषदों, चरक संहिता और मनु संहिता में सांख्य का विशिष्ट उल्लेख मिलता है। इसके पारंपरिक प्रतिष्ठापक कपिल मुनि थे। सांख्य सूत्र नामक ग्रंथ में छह अध्याय और 451 सूत्र हैं।

प्रकृति से लेकर स्थूल–भूत पर्यन्त सारे तत्त्वों की संख्या की गणना किये जाने से इसे सांख्य दर्शन कहते हैं। सांख्य संख्या द्योतक है। इस शास्त्र का नाम सांख्य दर्शन इसलिए पड़ा कि इसमें 25 तत्त्व या सत्य–सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। सांख्य दर्शन की मान्यता है कि संसार की हर वास्तविक वस्तु का उद्गम पुरूष और प्रकृति से हुआ है। पुरूष में स्वयं आत्मा का भाव है जबकि प्रकृति पदार्थ और सृजनात्मक शक्ति की जननी है। विश्व की आत्माएँ संख्यातीत है जिसमें चेतना तो है पर गुणों का अभाव है। वही प्रकृति मात्र तीन गुणों के समन्वय से बनी है। इस त्रिगुण सिद्धान्त के अनुसार सत्त्व, रजस् तथा तमस् की स्थिति होती है। प्रकृति की अविकसित अवस्था में ये गुण निष्क्रिय होते हैं पर परमात्मा के तेज सृष्टि के उदय की प्रक्रिया प्रारम्भ होते ही प्रकृति के तीन गुणों के बीच का समेकित संतुलन टूट जाता है। सांख्य के अनुसार 24 मूल तत्त्व होते हैं जिनमें प्रकृति और उसकी विकृति होती है और पुरूष पच्चीसवां है। प्रकृति का स्वभाव अन्तर्वर्ती और पुरूष का अर्थ व्यक्ति–आत्मा है। विश्व की आत्माएं संख्यातीत है। ये सभी आत्माएँ समान है और विकास की तटस्थ दर्शिकाएं हैं। आत्माएँ किसी न किसी रूप में प्रकृति से संबंधित हो जाती है और उनकी मुक्ति इसी में होती है कि प्रकृति से अपने विभेद का अनुभव (साक्षात्कार) करे। जब आत्माओं और गुणों के बीच की भिन्नता का गहरा ज्ञान हो जाये तो इनसे मुक्ति मिलती है और मोक्ष संभव होता है।

प्रकृति मूल रूप में सत्त्व, रजस् एवं तमस् की साम्यावस्था को कहते हैं। तीनों आवेश परस्पर एक दूसरे को निःशेष (neutralize) कर रहे होते हैं।

परमात्मा का तेज परमाणु (त्रित) की साम्यावस्था को भंग करता है और वैषम्यावस्था आरंभ होती है। सृष्टि या सर्ग के क्रम में यह प्रथम परिवर्तन है।

इस अवस्था को महत् कहते हैं। यह प्रकृति का प्रथम परिणाम है। मन और बुद्धि इसी महत् से बनते हैं। इसमें परमाणु की तीन शक्तियाँ बर्हिमुख होने से आस-पास के परमाणुओं को आकर्षित करने लगती है। अब परमाणु के समूह बनने लगते हैं। तीन प्रकार के समूह देखे जाते हैं। एक वे है जिनसे रजोगुण शेष रह जाता है। यह तेजस अहंकार कहलाता है। दूसरा परमाणु-समूह वह है जिसमें सत्त्व गुण प्रधान होता है वह वैकारिक अहंकार कहलाता है। तीसरा परमाणु-समूह वह है जिसमें तमोगुण प्रधान होता है। यह भूतादि अहंकार है।

इन अहंकारों को वैदिक भाषा में आपः कहा जाता है। ये (अहंकार) प्रकृति का दूसरा परिणाम है।

तदनन्तर इन अहंकारों से पाँच तन्मात्राएँ और इनसे (रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द) पाँच महाभूत बनते हैं अर्थात् तीनों अहंकार जब एक समूह में आते हैं तो वे परिमण्डल कहलाते हैं।

और भूतादि अहंकार एक स्थान पर एकत्रित हो जाते हैं तो भारी परमाणु-समूह बीच में हो जाते हैं और हल्के उनके चारों ओर घूमने लगते हैं। दार्शनिक भाषा में इन्हें परिमण्डल कहते हैं। परिमण्डलों के समूह पाँच प्रकार के हैं। इनको महाभूत कहते हैं:

1. पार्थिव
2. जलीय
3. वायवीय
4. आग्नेय
5. आकाशीय

सांख्य का प्रथम सूत्र है:

अथ त्रिविधदु:खात्यन्तः निवृत्तिरत्यन्त पुरूषार्थः।।1।।

अर्थात् अब हम तीनों प्रकार के दु:खों-आधिभौतिक (शारीरिक), आधिदैविक एवं आध्यात्मिक से आत्यन्तिक रूप से छुटकारा पाने के लिए सर्वोकृष्ट प्रयत्न का इस ग्रन्थ में वर्णन कर रहे हैं।

सांख्य का उद्देश्य तीनों प्रकार के दुःखों की निवृत्ति करना है। तीन दुःख है।

आधिभौतिक- यह मनुष्य को होने वाली शारीरिक दुःख है जैसे बीमारी, अपाहिज होना इत्यादि।

आधिदैविक- यह देवी प्रकोपों द्वारा होने वाले दुःख है जैसे बाढ़, आंधी, तूफान, भूकंप इत्यादि के प्रकोप।

आध्यात्मिक - यह दुःख सीधे मनुष्य की आत्मा को होते हैं जैसे कि कोई मनुष्य शारीरिक व दैविक दुःखों के होने पर भी दुखी होता है। उदाहरणार्थ-कोई अपनी संतान अपना माता-पिता के बिछुड़ने पर दुःखी होता है अथवा कोई अपने समाज की अवस्था को देखकर दुःखी होता है।

सांख्य का एक अन्य सूत्र है-

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान,
महतोऽहंकारोऽहंकारात् पंचतन्मात्राण्युभयमिनिन्द्रियं
तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरूष इति पंचविंशतिर्गणः।।

अर्थात् सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। साम्यावस्था भंग होने पर बनते हैं: महत् तीन अहंकार, पाँच तन्मात्राएँ, 10 इन्द्रियाँ और पाँच महाभूत। पच्चीसवां गण है पुरूष।

वैशेषिक दर्शन

मूल पदार्थ-परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति का वर्णन तो ब्रह्मसूत्र में है। ये तीन पदार्थ ब्रह्म कहाते हैं। प्रकृति के परिणाम अर्थात् रूपान्तर दो प्रकार के हैं। महत् अहंकार, तन्मात्रा तो अव्यक्त है, इनका वर्णन सांख्य दर्शन में है। परिमण्डल पंच महाभूत तथा महाभूतों से बने चराचर जगत् के सब पदार्थ व्यक्त पदार्थ कहलाते हैं। इनका वर्णन वैशेषिक दर्शन में है।

वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक महिर्ष कणाद है। चूंकि ये दर्शन परिमण्डल, पंच महाभूत और भूतों से बने सब पदार्थों का वर्णन करता है, इसलिए वैशेषिक दर्शन विज्ञान-मूलक है। दूसरे शब्दों में, यह प्रथम वैज्ञानिक दर्शन है।

वैशेषिक दर्शन के प्रथम दो सूत्र है-

अथातो धर्म व्याख्यास्यामः।।

अर्थात् अब हम धर्म की व्याख्या करेंगे।

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।।

अर्थात् जिससे इहलौकिक उन्नति (अभ्युदय) और पारलौकिक उन्नति (निःश्रेयस) की सिद्धि होती है वह धर्म है।

कणाद के वैशेषिक दर्शन की गौतम के न्याय-दर्शन से भिन्नता इस बात में है कि इसमें सोलह के स्थान पर सात ही पदार्थ का विवेचन है। जिसमें **विशेष** पर अधिक बल दिया गया है। इसीलिए इसे वैशेषिक दर्शन कहा जाता हैं।

ये पदार्थ हैं-द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव।

वैसे वैशेषिक दर्शन बहुत कुछ न्याय दर्शन के समरूप है और इसका लक्ष्य जीवन में सांसारिक वासनाओं को त्याग कर सुख प्राप्त करना और ईश्वर के गंभीर ज्ञान-प्राप्ति के द्वारा अंततः मोक्ष प्राप्त करना है। न्याय-दर्शन की तरह वैशेषिक सूत्र भी प्रश्नोत्तर के रूप में ही लिखा गया है।

कणाद के अनुसार जगत् में पदार्थों की संख्या केवल छह है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। क्योंकि इस दर्शन में विशेष पदार्थ सूक्ष्मता से निरूपण किया गया है। इसलिए इसका नाम वैशेषिक दर्शन है।

धर्म विशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां सधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निः श्रेयसम्।। वैशेषिक 1/1/8

अर्थात् धर्म-विशेष से उत्पन्न हुए पदार्थ यथा, द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय-रूप पदार्थों के सम्मिलित और विभक्त धर्मो के अध्ययन-मनन और तत्त्वज्ञान से मोक्ष होता है। ये मोक्ष विश्व की आणवीय प्रकृति तथा आत्मा से उसकी भिन्नता के अनुभव पर निर्भर कराता है।

वैशेषिक दर्शन के मुख्य पदार्थ

1. द्रव्यः **पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि।।** (वेशैषिक 1.1.5) अर्थात् द्रव्य गिनती में 9 है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन।
2. गुणः गुणों की संख्या चौबीस मानी गयी है जिनमें कुछ सामान्य और बाकी विशेष कहलाते हैं। जिन गुणों से द्रव्यों में विखराव न हो उन्हें सामान्य (संख्या, वेग, आदि) और जिनसे बिखराव (रूप, बुद्धि, धर्म आदि) उन्हें विशेष गुण कहते हैं।

3. **कर्म:** किसी प्रयोजन को सिद्ध करने में कर्म की आवश्यकता होती है, इसलिए द्रव्य और गुण के साथ कर्म को भी मुख्य पदार्थ कहते हैं। चलना, फेंकना, हिलना आदि कर्म कहलाते हैं।
4. **सामान्य:** मनुष्यों में मनुष्यत्व, वृक्षों में वृक्षत्व जाति सामान्य है और ये बहुतों में होती है। दिशा, काल आदि में जाति नहीं होती क्योंकि ये अपने आप में अकेली है।
5. **विशेष:** देश काल की भिन्नता के बाद भी एक दूसरे के बीच पदार्थ जो विलक्षणता का भेद होता है, वह उस द्रव्य में एक विशेष की उपस्थिति से होता है। उस पहचान या विलक्षण प्रतीति का एक निमित्त होता है।
6. **समवाय:** जहाँ गुण व गुणी का संबंध इतना घना है कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता।
7. **अभाव:** इसे भी पदार्थ माना गया है। किसी भी वस्तु की उत्पत्ति से पूर्व उसका अभाव अथवा किसी एक वस्तु में दूसरी वस्तु के गुणों का अभाव आदि इसके उदाहरण है।

न्याय दर्शन

महर्षि अक्षपाद गौतम द्वारा प्रणीत न्याय दर्शन एक आस्तिक दर्शन है जिसमें ईश्वर कर्म-फल प्रदाता है। इस दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय प्रमाण है। न्याय शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त होता है परन्तु दार्शनिक साहित्य में न्याय वह साधन है जिसकी सहायता से किसी प्रतिपाद्य विषय की सिद्ध या किसी सिद्धान्त का निराकरण होता है-

नीयते प्राप्यते विविक्षितार्थ सिद्धिरनेन इति न्याय:।।

अत: न्यायदर्शन में अन्वेषण अर्थात् जाँच-पड़ताल के उपायों का वर्णन किया गया है।

इस ग्रन्थ में पाँच अध्याय है तथा प्रत्येक अध्याय में दो दो आह्निक हैं। कुल सूत्रों की संख्या 539 हैं।

न्यायदर्शन में अन्वेषण अर्थात् जाँच-पड़ताल के उपायों का वर्णन किया गया है कहा है कि सत्य की खोज के लिए सोलह तत्त्व है। उन तत्त्वों के द्वारा किसी भी पदार्थ की सत्यता (वास्तविकता) का पता किया जा सकता है। ये सोलह तत्त्व हैं-

(1) प्रमाण, (2) प्रमेय, (3)संशय, (4) प्रयोजन, (5) दृष्टान्त, (6) सिद्धान्त, (7)अवयव, (8) तर्क (9) निर्णय, (10) वाद, (11) जल्प, (12) वितण्डा, (13) हेत्वाभास, (14) छल, (15) जाति और (16) निग्रहस्थान

इन सबका वर्णन न्याय दर्शन में है और इस प्रकार इस दर्शनशास्त्र को तर्क करने का व्याकरण कह सकते हैं। वेदार्थ जानने में तर्क का विशेष महत्व है। अत: यह दर्शन शास्त्र वेदार्थ करने में सहायक है।

दर्शनशास्त्र में कहा है-

तत्त्वज्ञानान्नि:श्रेयसाधिगम:।।

अर्थात्- इन सोलह तत्त्वों के ज्ञान से नि:श्रेयस की प्राप्ति होती है।

न्याय दर्शन के चार विभाग-

1. सामान्य ज्ञान की समस्या का निराकरण
2. जगत की समस्या का निराकरण
3. जीवात्मा की मुक्ति
4. परमात्मा का ज्ञान

न्याय दर्शन में अध्यात्मवाद की अपेक्षा तर्क एवं ज्ञान का आधिक्य है। इसमें तर्क शास्त्र का प्रवेश इसलिए कराया गया क्योंकि स्पष्ट विचार एवं तर्क-संगत प्रमाण परमानन्द की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। न्याय दर्शन में 1. सामान्य ज्ञान 2. संसार की क्लिष्टता 3. जीवात्मा की मुक्ति एवं 4. परमात्मा का ज्ञान- इन चारों गंभीर उद्देश्यों को लक्ष्य बनाकर प्रमाण आदि 16 पदार्थ उनके तार्किक समाधान के माने गये है किन्तु इन सबमे प्रमाण ही मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

किसी विषय में यथार्थ ज्ञान पर पहुंचने और अपने या दूसरे के अयथार्थ ज्ञान की त्रुटि ज्ञात करना ही इस दर्शन का मुख्य उद्देश्य है।

न्याय दर्शन के अनुसार दु:ख का अत्यन्तिक नाश ही मोक्ष है।

न्याय दर्शन की अन्तिम दीक्षा यही है कि केवल ईश्वरीयता ही वांछनीय है, ज्ञातव्य है और प्राप्य है- यह संसार नहीं।

पदार्थ और मोक्ष

मुक्ति के लिए इन समस्याओं का समाधान आवश्यक है जो 16 पदार्थों के

तत्त्वज्ञान से होता है। इनमें प्रमाण और प्रमेय भी है। तत्त्वज्ञान से मिथ्या-ज्ञान का नाश होता है। राग-द्वेष को सर्वथा नष्ट करके यही मोक्ष दिलाता है। सोलह पदार्थों का तत्त्व-ज्ञान निम्नलिखित क्रम से मोक्ष का हेतु बनाता है।

दुःख-जन्मप्रवृति-दोषमिथ्याज्ञानानाम् उत्तरोत्तरापाये तदनंन्तरापायायदपवर्गः।।

अर्थात्-दुःख, जन्म, प्रवृति (धर्म-अधर्म), दोष (राग, द्वेष) और मिथ्या ज्ञान- इनमें से उत्तरोत्तर नाश द्वारा इसके पूर्व का नाश होने से अपवर्ग अर्थात् मोक्ष होता है।

इनमें से प्रमेय के तत्त्व-ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है और प्रमाण आदि पदार्थ उस ज्ञान के साधन है। युक्ति तर्क है जो प्रमाणों की सहायता करता है। पक्ष-प्रतिपक्ष के द्वारा जो अर्थ का निश्चय है, वही निर्णय है। दूसरे अभिप्राय से कहे शब्दों का कुछ और ही अभिप्राय कल्पना करके दूषण देना छल है।

आत्मा का अस्तित्व : आत्मा, शरीर और इन्द्रियों में केवल आत्मा ही भोगने वाला है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख और ज्ञान उसके चिह्न है जिनसे वह शरीर से अलग जाना पड़ता है। उसके भोगने का घर शरीर है। भोगने के साधन इन्द्रिय है। भोगने योग्य विषय (रूप, रस, गंध, शब्द और स्पर्श) अर्थ हैं उस भोग का अनुभव बुद्धि है और अनुभव कराने वाला अंतःकरण मन है। सुख-दुःख का कराना फल है और अत्यान्तिक रूप से उससे छूटना ही मोक्ष है।

न्याय के मतानुसार जीवात्मा कर्ता एवं भोक्ता होने के साथ-साथ, ज्ञानादि से सम्पन्न नित्य तत्त्व है। यह जहाँ वस्तुवाद को मान्यता देता है, वहीं यथार्थवाद का भी पूरी तरह अनुगमन करता है। मानव जीवन में सुखों की प्राप्ति का उतना अधिक महत्त्व नहीं है, जितना कि दुःखों की निवृत्ति का। ज्ञानवान् हो या अज्ञानी, हर छोटा बड़ा व्यक्ति सदैव सुख प्राप्ति का प्रयत्न करता ही रहता है। सभी चाहते हैं कि उन्हें सदा सुख ही मिले, कभी दुःखों का सामना न करना पड़े, उनकी समस्त अभिलाषाएँ पूर्ण होती रहें, परन्तु ऐसा होता नहीं। अपने आप को पूर्णतः सुखी कदाचित् ही कोई अनुभव करता हो।

जिनको भरपेट भोजन, तन ढकने के लिए पर्याप्त वस्त्र तथा रहने के लिए मकान भी ठीक से उपलब्ध नहीं तथा दिन भर रोजी-रोटी के लिए मारे मारे फिरते हैं, उनकी कौन कहे; जिनके पास पर्याप्त धन-साधन, श्रेय-सम्मान सब कुछ है, वे भी अपने दुःखों का रोना रोते देखे जाते हैं। आखिर ऐसा क्यों है ? क्या

कारण है कि मनुष्य चाहता तो सुख है; किन्तु मिलता उसे दु:ख है। सुख-संतोष के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते हुए भी वह अनेकानेक दु:खों एवं अभावों को प्राप्त होता रहता है। आज की वैज्ञानिक समुन्नति से, पहले की अपेक्षा कई गुना सुख के साधनों में बढ़ोत्तरी होने के उपरान्त भी स्थायी समाधान क्यों नहीं मिल सका ? जहाँ साधन विकसित हुए वहीं जटिल समस्याओं का प्रादुर्भाव भी हुआ। मनुष्य शान्ति-संतोष की कमी अनुभव करते हुए चिन्ताग्रस्त एवं दु:खी ही बना रहा। यही कारण है कि मानव जीवन में प्रसन्नता का सतत् अभाव होता जा रहा है।

इन समस्त दु:खों एवं अभावों से मनुष्य किस प्रकार मुक्ति पा सकता है, प्राचीन ऋषियों-मनीषियों एवं भारतीय तत्त्वदर्शी महापुरुषों ने इसके लिए कई प्रकार के मार्गों का कथन किया है, जो प्रत्यक्ष रूप से भले ही प्रतिकूल व पृथक् प्रतीत होते हों; परन्तु पात्र व रुचि के आधार पर सबका-अपना-अपना सच्चा दृष्टिकोण है। एक मार्ग वह है जो आत्मस्वरूप के ज्ञान के साथ-साथ भौतिक जगत् के समस्त पदार्थों के प्रति आत्मबुद्धि का भाव रखते हुए पारलौकिक साधनों का उपदेश देता है। दूसरा मार्ग वह है जो जीवमात्र को ईश्वर का अंश बतलाकर, जीवन में सेवा व भक्तिभाव के समावेश से लाभान्वित होकर आत्मलाभ की बात बतलाता है। तीसरा मार्ग वह है जो सांसारिक पदार्थों एवं लौकिक घटनाक्रमों के प्रति सात्त्विकता पूर्ण दृष्टि रखते हुए, उनके प्रति आसक्ति न होने को श्रेयस्कर बताता है।

इसी तीसरे मार्ग का अवलम्बन न्यायदर्शन करता है, जबकि वह ईश्वरोपासना, पुनर्जन्म, लोक-परलोक, आत्मा आदि में भी भरपूर आस्था रखने वाली है, फिर भी इन सबकी सम्यक् उपलब्धि तथा इहलौकिक एवं परलौकिक जीवन की सफलता हेतु भौतिक जगत् के पदार्थों एवं उससे संबंधित घटनाओं का कथन करता है। न्याय का मानना है कि जो भी ज्ञान मनुष्य को उपलब्ध है, वह इन्द्रियों व मन-बुद्धि के माध्यम से ही प्राप्त हुआ करता है। इन सबमें विकृति उत्पन्न होने की स्थिति में उपलब्ध ज्ञान भी उसी अनुपात में विकारयुक्त हो जाने के कारण उस विकृत ज्ञान का आधार लेकर जो भी निर्णय लिया जायेगा तथा उससे किसी उद्देश्य विशेष की पूर्ति नहीं की जा सकेगी। इन्हीं सब तथ्यों को ध्यान में रखते हुए न्यायशास्त्र ने यह सैद्धान्तिक अभिव्यक्ति की है कि संसार में न आने के पश्चात् यदि मनुष्य सत्कर्म व सद्व्यवहार के माध्यम से अपने दु:खों को दूर

करना चाहे, तो सांसारिक संरचना में प्रयुक्त होने वाले जड़-चेतन सभी पदार्थों का वास्तविक स्वरूप भी जाने समझे। अनेक तरह के मतानुयायियों ने अपने अपने विचार से पदार्थों का स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकार का बतलाया है, जिसके कारण मनुष्य भ्रम में पड़ जाता है। इस भ्रमात्मकतापूर्ण स्थिति से छुटकारा दिलाने के लिए न्यायशास्त्र ने तर्क व साक्ष्यों की ऐसी सुन्दर विचारधारा प्रस्तुत की है, जिससे पदार्थों के सही स्वरूप का निर्णय किया जा सके।

योग दर्शन

योग की प्रक्रिया विश्व के बहुत से देशों में प्रचलित है। अधिकांशतः यह आसनों के रूप में जानी जाती है। कहीं-कहीं प्राणायाम भी प्रचलित है। किन्तु यह आसन इत्यादि योग दर्शन का बहुत ही छोटा भाग है। इस दर्शन की व्यावहारिक और आध्यात्मिक उपयोगिता सर्वमान्य है क्योंकि योग के आसन एवं प्राणायाम का मनुष्य के शरीर एवं उसके प्राणों को बलवान एवं स्वस्थ्य बनाने में सक्षम योगदान रहा है।

इस दर्शन के प्रवर्तक महर्षि पतंजलि है। योग सूत्र चार पादों में विभक्त है जिनके सम्पूर्ण सूत्र संख्या 194 है। ये चार पाद है: समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद।

योग दर्शन के प्रथम दो सूत्र है।

अथ योगानुशासनम्।।1।।

अर्थात् योग की शिक्षा देना इस समस्त शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय समझना चाहिए।

योगश्चित्तवृत्ति निरोधः।। 2।।

अर्थात् चित्त या मन की वृत्तियों को सब बुराई से दूर कर, शुभ गुणों में स्थिर करके, पश्रमेश्वर के समीप अनुभव करते हुए मोक्ष प्राप्त करने के प्रयास को योग कहा जाता है।

योग है जीवात्मा का सत्य के साथ संयोग अर्थात् सत्य-प्राप्ति का उपाय। यह माना जाता है कि ज्ञान की प्राप्ति मनुष्य-जीवन का लक्ष्य है और ज्ञान बुद्धि की श्रेष्ठता से प्राप्त होता है।

भगवद्गीता में कहा गया है-

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संयम्यात्मानमात्मना।

अर्थात् इस प्रकार बुद्धि से परे आत्मा को जानकर, आत्मा के द्वारा आत्मा को वश में करके (अपने पर नियंत्रण प्राप्त किया जा सकता है) यही योग है।

इसे प्राप्त करने का उपाय योगदर्शन में बताया है। आत्मा पर नियंत्रण बुद्धि द्वारा, यह योग दर्शन का विषय है। इसका प्रारम्भिक पग योगदर्शन में ही बताया है–

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।। योग० 2–1

अर्थात्–तप (निरंतर प्रयत्न), स्वाध्याय (अध्यात्म - विद्या का अध्ययन) और परमात्मा के आश्रय से योग का कार्यक्रम हो सकता है।

अष्टांग योगः क्लेशों से मुक्ति पाने व चित्त को समहित करने के लिए योग के 8 अंगों का अभ्यास आवश्यक है। इस अभ्यास की अवधि 8 भागों में विभक्त है– 1. यम, 2. नियम, 3. आसन, 4. प्राणायाम, 5. प्रत्याहार, 6. धारणा, 7. ध्यान और 8. समाधि

मुख्यतः योग–क्रियाओं का लक्ष्य है बुद्धि को विकास देना। यह कहा है कि बुद्धि के विकास का अन्तिम रूप है– **ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा।।**

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषयाविशेषार्थत्वात्।।

अर्थात्–(योग से प्राप्त) बुद्धि को ऋतंभरा कहते हैं और इन्द्रियों से प्रत्यक्ष तथा अनुमान से होने वाला ज्ञान सामान्य बुद्धि से भिन्न विषय अर्थ वाला हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि जो ज्ञान सामान्य बुद्धि से प्राप्त होता है वह भिन्न है और ऋतंभरा (योग से सिद्ध हुई बुद्धि) से प्राप्त ज्ञान भिन्न अर्थ वाला हो जाता है। इससे ही अध्यात्म–ज्ञान की प्राप्ति होती है जिससे कैवल्य अर्थात् मोक्ष का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

तृतीय अध्याय

दार्शनिक संप्रत्यय

वस्तुवाद

वस्तुवाद (realism) या यथार्थवाद से तात्पर्य उस विचारधारा से है जो कि उस वस्तु एवं भौतिक जगत् को सत्य मानती है, जिसका हम ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। पशु, पक्षी, मानव, जल, थल, आकाश इत्यादि सभी वस्तुओं का हम प्रत्यक्षीकरण कर सकते हैं, इसलिए ये सभी सत्य हैं, वास्तविक हैं। यथार्थवाद, जैसा यह संसार है वैसा ही सामान्यतः उसे स्वीकार करता है। यथार्थवाद यद्यपि आदर्शवाद के विपरीत विचारधारा है किन्तु यह बहुत कुछ प्रकृतिवाद एवं प्रयोजनवाद से साम्य रखती है।

वस्तुवाद किसी एक सुगठित दार्शनिक विचारधारा का नाम न होकर उन सभी विचारों का प्रतिनिधित्व करता है जो यह मानते हैं कि वस्तु का अस्तित्व हमारे ज्ञान पर निर्भर नहीं करता है किन्तु यथार्थवादी विचारक मानते हैं कि वस्तु का स्वतंत्र अस्तित्व है, चाहे वह हमारे अनुभव में हो अथवा नहीं। वस्तु तथा उससे संबंधित ज्ञान दोनों अलग-अलग सत्ताएँ हैं। विश्व में अनेक ऐसी वस्तुएं हैं जिनके विषय में हमें कोई ज्ञान नहीं होता परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे वस्तुएं अस्तित्व में नहीं हैं। ज्ञान तो हमेशा बढ़ता जाता है। जगत् का सम्पूर्ण रहस्य मानव ज्ञान की सीमा में कभी नहीं आ सकता। कहने का तात्पर्य यह है कि वस्तु की स्वतंत्र स्थिति है चाहे मनुष्य को उसका ज्ञान हो अथवा नहीं। व्यक्ति का ज्ञान उसे वस्तु की स्थिति से अवगत कराता है, परन्तु वस्तु की स्थिति का ज्ञान मनुष्य को न हो तो वस्तु का अस्तित्व नष्ट नहीं होता। यथार्थवाद के अनुसार हमारा अनुभव स्वतंत्र न होकर बाह्य पदार्थों के प्रति प्रतिक्रिया का निर्धारण करता है। अनुभव बाह्य जगत् से प्रभावित है और बाह्य जगत् की वास्तविक सत्ता है। यथार्थवाद के अनुसार मनुष्य को वातावरण का ज्ञान होना चाहिए। उसे यह पता

होना चाहिए कि वह वातावरण को परिवर्तित कर सकता है अथवा नहीं और इसी ज्ञान के अनुसार उसे कार्य करना चाहिये।

वस्तुवाद का नवीन रूप वैज्ञानिक यथार्थवाद है जिसे आज 'यथार्थवाद' के नाम से ही जान जाता है। वैज्ञानिक यथार्थवादियों ने दर्शन की समस्याओं को सुलझाने में विशेष रूचि प्रदर्शित नहीं की। उनके अनुसार यथार्थ प्रवाहमय है। यह परिवर्तनशील है और इसके किसी निश्चित रूप को जानना असंभव है। अत: वह यह परिकल्पित करता है कि यथार्थ मानव मन की उपज नहीं है। सत्य मानव मस्तिष्क की देन है। यथार्थ मानव-मस्तिष्क से परे की वस्तु है। उस यथार्थ के प्रति दृष्टिकोण विकसित करना सत्य कहा जायेगा। जो सत्य यथार्थ के जितना निकट होगा वह उतना ही यथार्थ सत्य होगा।

वस्तुवाद एक ऐसी विचारधारा है जिसका बीजारोपण मानव मस्तिष्क में अति प्राचीन काल में ही हो गया था, जबकि वह अपने चारों ओर के वातावरण की वस्तुओं से प्रभावित होकर उन्हीं को यथार्थ मान लेता है। बटलर के अनुसार -'बहुत बड़ी संख्या में व्यक्तियों के लिए संसार निर्विवाद यथार्थ है। यदि उसकी यथार्थता के सम्बन्ध में पूछा जाय तो शीघ्र ही उत्तर प्राप्त होगा कि वास्तव में यह जगत् यथार्थ है। अज्ञात क्रिया एवं उपयुक्ति के अकृत्रिम क्षणों में हम सभी जगत् के बाह्य रूप को स्वीकार करते हुए यही मनोवृत्ति धारण करेंगे। यहाँ तक कि आदर्शवादी विचारक अपने अनधिकृत क्षणों में इस प्रकार की अकृत्रिमता के दोषी हैं, ऐसा यथार्थवादियों का कथन है।

किन्तु जहाँ तक यथार्थवाद के वैज्ञानिक स्वरूप का प्रश्न है हम यह कह सकते हैं कि जिस यथार्थवादी विचारधारा का बहुत पहले मानव मस्तिष्क में अचेतन रूप से बीजारोपण हो गया था, उसका सूत्रपात 16वीं शताब्दी के अन्त में हुआ जो 17वीं शताब्दी तक पहुँचते पहुँचते एकदम स्पष्ट हो गया।

अपने विकास क्रम में यथार्थवाद प्राचीन काल से आधुनिक काल तक अनेक रूपों में उपस्थित हुआ। प्राचीन यथार्थवाद के अनुसार सृष्टि के दो रूप थे-

1. प्राकृतिक व्यवस्था की सृष्टि, जिसमें परिवर्तन संभव है।
2. दैवीय व्यवस्था की सृष्टि जिसमें परिवर्तन की कोई सम्भावना नहीं है।

इस प्रकार बौद्धिकतावादी यथार्थवाद ने द्वैतवाद का समर्थन किया है। बौद्धिकतावादी यथार्थवाद के अनुसार दैवी जगत् में कोई परिवर्तन नहीं होता इसलिए वहाँ पर शिक्षा का कोई प्रश्न नहीं। सीखना केवल प्राकृतिक जगत् में ही संभव है, दैवीय जगत् में नहीं।

यथार्थवाद के प्रादुर्भाव के दो प्रमुख कारण थे- प्रथम, प्राचीनकाल से चली आने वाली आदर्शवादी विचारधारा का 16वीं शताब्दी तक आडम्बरपूर्ण एवं खोखला सिद्ध हो जाना तथा द्वितीय, विज्ञान का विकास। सोलहवीं शताब्दी तक लगभग सभी प्राचीन तथा मध्यकालीन आदर्श महत्त्वहीन हो चुके थे। उनमें किसी का विश्वास न था क्योंकि वे वर्तमान मानव जीवन के लिए उपयोगी नहीं थे। वे मनुष्य की सामान्य आवश्यकताओं को पूरा करने में असमर्थ थे। वे मानसिक विकास तो कर सकते थे किन्तु मनुष्यों में क्रियाशीलता एवं व्यावहारिकता उत्पन्न नहीं कर सकते थे। प्राचीन आदर्श समय की माँग को पूरा करने में असमर्थ थे, इसलिए मनुष्य ऐसे आदर्श की माँग करने लगा जो वास्तविक जीवन व्यतीत करने में सहायक हो। परिणाम स्वरूप मध्यकाल में मठवाद एवं विद्वद्वाद के बाद पुनरूत्थान काल का जन्म हुआ।

पुनरूत्थान काल के इस युग में मनुष्य में एक ऐसी लहर उत्पन्न हो गयी कि परलोक के बजाय मानवीय गुणों का विकास करना मानव जाति का प्रधान लक्ष्य हो गया। इसके परिणामस्वरूप 'मानवतावाद' का प्रादुर्भाव हुआ। इसके उपरान्त -'सुधारकाल' का जन्म हुआ। मानवतावाद एवं सुधारवाद के परिणामस्वरूप मनुष्य 'बुद्धि' एवं 'विवेक' पर आस्था रखने लगा और इनके आधार पर सभी वस्तुओं को समझने का प्रयास करने लगा। उनके विश्वास को और अधिक दृढ़ विज्ञान के विकास ने किया जो यथार्थवाद के जन्म का दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण है। वैज्ञानिक शोधों के फलस्वरूप मानव दृष्टिकोण की संकीर्णता एवं अन्ध विश्वास नष्ट हो गये। वैज्ञानिक युग का आरम्भ हुआ और इस युग ने 'बुद्धि एवं विवेक' को अधिक प्रधानता दी तथा मनुष्य का ध्यान वास्तविकता की ओर आकृष्ट किया। इस प्रकार भौतिक दार्शनिकता एवं वैज्ञानिक प्रवृत्ति के समावेश से यथार्थवाद का जन्म हुआ जो परलोक की सत्ता को अस्वीकार करता है।

भारतीय दर्शन में न्याय एवं वैशेषिक दर्शन यथार्थवाद के समकक्ष माने जाते हैं।

न्याय दर्शन के प्रवर्तक गौतम हैं जो अक्षपाद के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। न्याय दर्शन में तार्किक आलोचना का आश्रय लिया गया है। अन्य सभी भारतीय दर्शन की भाँति न्याय दर्शन का उद्देश्य भी मोक्ष प्राप्ति है, किन्तु इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति आवश्यक है। न्याय दर्शन में प्रमाण का विशेष महत्त्व है। यह दर्शन जीवन की समस्याओं का समाधान करने के लिए प्रमाणों द्वारा किसी विषय की परीक्षा करता है। जिसके द्वारा प्रमा की उत्पत्ति होती है, उसे प्रमाण कहते हैं। प्रमा का अर्थ है - यथार्थ ज्ञान अथवा यथार्थ अनुभव। न्याय दर्शन के अनुसार यथार्थ ज्ञान चार उपायों से प्राप्त किया जा सकता है, इसलिए प्रमाण भी चार माने गये हैं। यथा प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द। जो अनुभव इन्द्रियों के संयोग से प्राप्त होता है और जिसके विषय में सन्देह का अभाव होता है तथा जो यथार्थ भी होता है उसे 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। किसी हेतु अथवा लक्षण के ज्ञान से उस हेतु को धारण करने वाले पदार्थ का ज्ञान करना 'अनुमान' कहलाता है। 'उपमान' के द्वारा नाम एवं नामी का सम्बन्ध जाना जाता है। 'गवय' अथवा नील गाय, सामान्य गाय के समान होती है। इसको सुनकर जब कोई व्यक्ति 'गो' अर्थात सामान्य गाय के समान पशु को नीलगाय समझने लगता है तब उसे 'उपमान' द्वारा प्राप्त ज्ञान कहा जाता है। चार्वाक दर्शन में उपमान को प्रमाण स्वीकार नहीं किया गया है। 'शब्द' न्याय दर्शन के अनुसार अन्तिम प्रमाण है। शब्दों एवं वाक्यों से हम पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। यह ज्ञान शब्द प्रमाण द्वारा होता है। इसलिए कहा गया है - आप्तोपदेश: शब्द: अर्थात यथार्थ का प्रामाणिक ज्ञान रखने वाले पुरूष का वचन ही शब्द प्रमाण है।

वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कणाद ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय एवं अभाव इन सात पदार्थों पर विचार किया है। न्याय एवं वैशेषिक को यहाँ यथार्थवादी कहा गया है किन्तु दोनों ही मुक्ति पर विश्वास करते हैं। अपने विवेचन में यह यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाते हैं, इसीलिए इन्हें वस्तुवादी या यथार्थवाद कहा गया है।

जैन दर्शन का स्याद्वाद भी यथार्थवादी माना गया है। स्याद्वाद सहिष्णुता एवं विनीतता का मार्ग है जो हमें छात्रों में जनतंत्रात्मक मनोवृत्ति का विकास करने की प्रेरणा देता है, साथ ही दूसरों के विचारों को सुनना, दूसरे के रीति रिवाजों को समझना तथा लोकतंत्र के संचालन की भी शिक्षा देता है। भारतीय यथार्थवाद

जीवन के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाने का परामर्श देता है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ईश्वर, आत्मा इत्यादि को यह अनावश्यक बताता है।

प्रत्ययवाद या आदर्शवाद

उन विचारों और मान्यताओं की समेकित विचारधारा है जिनके अनुसार इस जगत् की समस्त वस्तुएं विचार (Idea) या चेतना (Consciousness) की अभिव्यक्ति है। सृष्टि का सारतत्त्व जड़ पदार्थ (Matter) नहीं अपितु मूल चेतना है। आदर्शवाद जड़ता या भौतिकवाद का विपरीत रूप प्रस्तुत करता है। यह आत्मिक-अभौतिक के प्राथमिक होने तथा भौतिक के द्वितीयक होने के सिद्धांत को अपना आधार बनाता है, जो उसे देश-काल में जगत् की परिमितता और जगत् की ईश्वर द्वारा रचना के विषय में धर्म के जड़सूत्रों के निकट पहुँचाता है। आदर्शवाद चेतना को प्रकृति से अलग करके देखता है, जिसके फलस्वरूप वह मानव चेतना और संज्ञान की प्रक्रिया को अनिवार्यत: रहस्यमय बनाता है और अक्सर संशयवाद तथा अज्ञेयवाद की तरफ बढ़ने लगता है।

कुछ विचारकों के अनुसार मुनष्य और अन्य प्राणियों में प्रमुख भेद यह है कि मनुष्य प्रत्ययों का प्रयोग कर सकता है और अन्य प्राणियों में यह क्षमता विद्यमान नहीं। कुत्ता दो मनुष्यों को देखता है, परंतु 2 संख्या को उसने कभी नहीं देखा। प्रत्यय दो प्रकार के होते हैं- वैज्ञानिक और नैतिक। संख्या, गुण, मात्रा आदि वैज्ञानिक प्रत्ययों का अस्तित्व तो असंदिग्ध है, परंतु नैतिक प्रत्ययों का अस्तित्व विवाद का विषय बना रहा है। हम कहते हैं- 'आज मौसम बहुत अच्छा है'। यहाँ हम अच्छेपन का वर्णन करते हैं और इसके साथ अच्छाई के अधिक न्यून होने की ओर संकेत करते हैं। इसी प्रकार का भेद कर्मों के संबंध में भी किया जाता है। नैतिक प्रत्यय को आदर्श भी कहते हैं। आदर्श एक ऐसी स्थिति है, जो-

1. वर्तमान में विद्यमान नहीं,
2. वर्तमान स्थिति की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् है,
3. अनुकरण करने के योग्य है, और
4. वास्तविक स्थिति का मूल्य जांचने के लिए मापक का काम देती है। आदर्श के प्रत्यय में मूल्य का प्रत्यय निहित है। मूल्य के अस्तित्व की बाबत हम क्या कह सकते हैं?

कुछ लोग मूल्य को मानव कल्पना का पद ही देते हैं। जो वस्तु किसी कारण से हमें आकर्षित करती है, वह हमारी दृष्टि में मूल्यवान या भद्र है। इसके विपरीत प्लेटो के विचार में प्रत्यय या आदर्श ही वास्तविक अस्तित्व रखते हैं, दृष्ट वस्तुओं का अस्तित्व तो छाया मात्र है। एक तीसरे मत के अनुसार, जिसका प्रतिनिधित्व अरस्तू करता है, आदर्श वास्तविकता का आरंभ नहीं, अपितु 'अंत' है। 'नीति' के आरंभ में ही वह कहता है कि सारी वस्तुएँ आदर्श की ओर चल रही हैं।

मूल्यों में उच्च और निम्न का भेद होता है। जब हम कहते हैं कि 'क', 'ख' से उत्तम है, तब हमारा आशय यही होता है कि सर्वोत्तम से ख की अपेक्षा क का अंतर थोड़ा है। मूल्य क तुलना का आधार सर्वोत्तम है। इसे 'निःश्रेयस' कहते हैं। प्राचीन यूनान और भारत के लिए निःश्रेयस या सर्वश्रेष्ठ मूल्य के स्वरूप का समझना ही नीति में प्रमुख प्रश्न था।

आदर्शवाद अंग्रेजी के आइडियलिज्म (Idealism) का शाब्दिक अर्थ है। यह दर्शन की एक शाखा के लिये प्रयुक्त होता है। इस दर्शन में उच्च आदर्शों की बात की जाती है। इस दर्शन से सम्बन्धित दार्शनिक विचार की चिरन्तन सत्ता में विश्वास करते हैं, अतः मूलतः यह दर्शन "विचारवादी दर्शन अथवा आइडियालिज्म" है। हिन्दी में उसका शब्दतः अनुवाद उभर आया। यद्यपि "विचारवाद" शब्द का प्रयोग करना उपयुक्त होता परन्तु शब्द की रूढ़ प्रकृति को ध्यान में रखकर यहां आदर्शवाद शब्द का प्रयोग किया जा रहा है।

आदर्शवाद के अनुसार सिर्फ विचार ही सत्य है इसके सिवा सत्य का अर्थ और रूप नहीं। हमारा हर व्यवहार मस्तिष्क से ही नियंत्रित होता है, इसलिए मस्तिष्क ही वास्तविक सत्य है भौतिक शरीर तो इसकी छाया मात्र है। मनुष्य वास्तव में आत्मा ही है। शरीर तो केवल इसका कवच या उपकरण मात्र ही है, जो नष्ट हो जायेगा यानि मनुष्य असल में आत्म रूपी सत्य है। पाश्चात्य दर्शन में ये मनस् के रूप में देखा गया। इसी को बुद्धि भी कहा गया है। विचार मस्तिष्क देता है अतः इस प्रकार की विचारधारा विचारवादी या प्रत्ययवादी भी कहलायी और विश्वास करने वाले अध्यात्मवादी कहलाए।

आदर्शवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

सृष्टि में दूसरे जीवधारियों से हमें पृथक किया हमारे मस्तिष्क ने, हमारे

विचार-विमर्श, सोचने-समझने, सूझ-बूझ की शक्ति ने किया। इसी मस्तिष्क के कारण हममें भाषा विचार या तर्क करने की ताकत आयी, और विचारकों के जिस वर्ग ने मस्तिष्क को महत्त्व देते हुये विचार करने की प्रक्रिया में अपना ज्यादा विश्वास दिखाया वह विचारवादी कहलाये और इस विचारधारा को आदर्शवाद कहा गया। आदर्शवादी जीवन की एक बहुत पुरानी विचारधारा कही जाती है, जब से मनुष्य ने विचार एवं चिन्तन शुरू किया तब से वह दर्शन है।

इसके ऐतिहासिक विकास पाश्चात्य देशों में सुकरात और प्लेटो से मानते हैं। हमारे देश में भी उपनिषद् काल से ब्रह्म-चिन्तन पर विचार मिलते हैं, जहां आत्मा, जीव ब्राह्माण्ड पर विचार-विमर्श हुए और हम पश्चिमी देशों से पीछे नहीं रहे। अंग्रेजी के शब्द "आइडियलिज़्म" आदर्शवाद का यथार्थ द्योतक है, परन्तु विषय-वस्तु के हिसाब से "आइडियलिज्म" के स्थान पर **आइडिज्म** अधिक समीप एवं अर्थपूर्ण जान पड़ता है।

पाश्चात्य जगत् में ऐतिहासिक क्रम में प्लेटो से आदर्शवाद का आरम्भ माना जाता है। प्लेटो के अनुसार- "संसार भौतिकता में नहीं है बल्कि उसकी वास्तविकता प्रत्ययों एवं विचारों से है।" मनुष्य का मन प्रत्ययों का निर्माण करता है। तर्क के आधार पर प्लेटो ने तीन शाश्वत विचार माने है। ये तीन विचार हैं- सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्। इन तीनों विचारों के द्वारा ही इन्द्रियगम्य वस्तुओं का निर्माण होता है। शिवम् का विचार ही श्रेष्ठ माना गया है। इसका कारण यह है कि प्लेटो ने वैयक्तिक मन और साथ-साथ समाजिक मन की परिकल्पना की है और यह भी माना कि वैयक्तिक मन सामाजिक मन से अलग नहीं रह सकता प्लेटो के विचारों का प्रभाव उसके द्वारा प्रभावित धर्म पर दिखायी दिया। हिब्रू परम्परा में ईश्वर को तर्कपूर्ण माना गया है। मानव तथा अन्य चेतन प्राणियों में क्या सम्बन्ध है? इस पर हमारे हिन्दू धर्म एवं अन्य सभी धर्मों में काफी विवेचना हुई है तथा विचार-विमर्श हुये है। धर्मों के अनुसार सभी प्राणी ईश्वर के अंश कहे गये यह आदर्शवादी दृष्टि कोण है, जिसके अनुसार सभी जीवित प्राणियों में चिद् होता है। आगे चलकर रेने डेकार्टे का द्वितत्त्ववाद प्रसिद्ध हुआ। डेकार्टे का कहना है कि ईश्वर ने मन तथा पदार्थ दोनों की रचना की है। इन्द्रियज्ञान को डेकार्टे ने भ्रामक कहा है।

डेकार्टे के बाद स्पिनोजा ने आदर्शवाद को आगे बढ़ाया। स्पिनोजा ने अपना

तत्त्व सिद्धान्त रखा है। स्पिनोजा के तत्त्व शाश्वत है वह पदार्थ नहीं है यह एक तत्त्व है, जिसे ईश्वर कह रहे हैं। स्पिनोजा के बाद लाइबनीज का चिद्‌बिन्दुवाद दर्शन प्रसिद्ध हुआ। लाइबनीज के अनुसार चिद्‌बिन्दुओं से संसार निर्मित है यह चिद्‌बिन्दु साधारण, अविभाज्य इकाई है। जटिल रूप में यह आत्मा कहलाती है। ईश्वर भी एक उच्च आत्मा वर्ग का चिद्‌बिन्दु है। भारतीय दर्शन में भी लाइबनीज के समाज विचार है। तत्त्व मीमांसा के अनुसार ठीक लाइबनीज की तरह यह विचार है कि पदार्थ चिद् है तथा सभी वस्तुएं आध्यात्मिक परमाणुओं से एक-दूसरे के अनुकूल बनी हुई हैं। बर्कले ने भी संसार की सत्ता को लाइबनीज की तरह माना है लेकिन दूसरे ढंग से। बकेले ने पदार्थ के अस्तित्व को आध्यात्मिक आधार पर ही माना है, इसीलिये उसने ईश्वर को ही वास्तविक माना है।

अत: मन के द्वारा प्रत्यक्ष बना लेने पर ही पदार्थ का अस्तित्व हो जो विभिन्न संवेदनाआ, विचारों तथा इन्द्रियानुभवों के सहारे सिद्ध होता है। हमारे सामने जो सृष्टि है उसके पीछे आत्मा होती है। यह आत्मा ईश्वर है। ईश्वर ही एक तत्त्व है जो सभी मानसिक एवं भौतिक संसार के पीछे रहता है। बर्कले का दर्शन आत्मगत आदर्शवाद कहा जाता है। इमैनुअल कांट एक दूसरे प्रमुख आदर्शवादी माने गये। कांट मानते हैं कि प्रतीति वाले अनुभवगम्य जगत् के पीछे स्थगित वस्तु है। आत्मा की अमरता तथा स्वतंत्रता एवं नैतिक प्रधानता ने भारतीयों का विश्वास पहले से ही है। गीता दर्शन में कहा है- "नैन छिन्दन्ति शास्त्राणि नैनं दहति पावक:, नैनं क्लेदयन्ति आपो नैनं शोष्यते मारूत:"। अर्थात् पाप, पुण्य, अच्छाई-बुराई आदि नैतिक नियमों की प्रधानता है और इन सबसे ऊपर ईश्वर का होना भारतीयों का प्राचीन विश्वास है। कान्ट के प्रभाव से जर्मनी में फिख़्ते व हेगेल का अविर्भाव हुआ जिन्होंने आदर्शवाद के विकास में अपने योगदान किए।

फिख़्ते ने जीवन के भौतिक पक्ष पर बहुत बल दिया। इसने वास्तविकता को नैतिकता से पूर्ण इच्छाशक्ति माना तथा इस प्रतीत्यात्मक जगत् को मनुष्य की इच्छा शक्ति को विकसित करने का हेतु बताया, जिससे उसके चरित्र का निर्माण होता है। ससीम एवं असीम आत्मा की भावना भारतीय दर्शन में भी पायी जाती है तथा जड़ प्रकृति की ओर फिख़्ते का अनात्मक जगत् संकेत करता है।

फिख़्ते के बाद हेगेल ने आदर्शवादी दर्शन के क्षेत्र में प्रभाव डाला इनके दर्शन को विश्व चैतन्यवाद कहा है, इन्होंने समस्त विश्व को सम्पूर्ण के रूप में देखा

और अनुभव के प्रत्येक प्रकरण की सम्पूर्णता से जुड़ा हुआ बताया। हेगेल के अनुसार इस प्रकार अनन्त आत्मा अथा ईश्वर का ब्रह्म रूप संसार है और संसार को समझना ईश्वर का रूप समझने के लिये आवश्यक भी है क्योंकि ज्ञान के ब्रह्म एवं आंतरिक दो रूप है। भारतीय विचारधारा भी ईश्वर को **सर्वभूतेषु** एवं **सर्वभूतहितः** कहा है।

हेगेल के प्रभाव शेलिंग तथा शापेनहावर पर पड़ा। शेलिंग ने चरम को आत्म एवं अनात्म, ज्ञेय एवं अज्ञेय से अलग एक सत्ता मानी है। एक प्रकार से भारतीय द्वैता-द्वैत की भावना इसमें पायी जाती है। शापेनहावर ने अपने चरम को परम इच्छा में बदल दिया और कहा जगत् मेरा विचार हैं इस प्रकार इच्छा को परम श्रेष्ठ बताया। शापेनहावर ने जड़ प्रकृति पर दृष्टि जमाई और उसे अचेतन कहा। जड़ प्रकृति को चरम नहीं कहा जा सकता है। इन सब दार्शनिकों का प्रभाव फ्रांस, इटली, रूस, इंग्लैण्ड तथा अमेरिका के दार्शनिकों पर काफी पड़ा है।

भारत में वैदिक काल में बहुत्ववादी आदर्शवादी थे। इस्लामी दर्शन के साथ अद्वैतवाद, द्वैताद्वतवाद, विशिष्ट द्वैतवाद आदि रूप मिलते हैं। आज भी इनके पोषक दयानन्द, विवेकानन्द, अरविन्द, टैगोर, गांधी, रामकृष्ण, राधाकृष्ण तथा कुछ मुस्लिम विचारक जैसे अबुल कलाम आजाद, जाकिर हुसैन, जैसे शिक्षाविद् माने जाते हैं।

आदर्शवाद का आधार विचार- आदर्शवाद का शुद्ध नाम विचारवाद होना चाहिये क्योंकि इसका मुख्य आधार विचार है। जगत् की वास्तविकता विचारों पर आश्रित है। प्रकृति एवं भौतिक पदार्थ की सत्ता विचारों का कारण है। आदर्शवाद का आधार भौतिक जगत् न होकर मानसिक या आध्यात्मिक जगत् है। विचार अन्तिम एवं सार्वभौमिक महत्त्व वाले होते हैं। वे सार अथवा भौतिक प्रतिरूप है जो जगत् को आकार देते हैं, ये मानदण्ड हैं जिनसे इन्द्रिय अनुभव योग्य वस्तुओं की जाँच होती है।

आदर्शवाद का आधार आत्मा- एक दूसरा आधार आन्तरिक जगत् है जिसे आत्मा या मन कहते हैं। इसी के कारण विचार प्राप्त होते और उन विचारों को वास्तविकता मिलती है जगत् का आधार मनस है। यह यांत्रिक नहीं है, जीवन हम जटिल भौतिक रासायनिक शक्तियों में ही नहीं घटा सकते। यह मनस पर आधारित है। पदार्थ को मनस का प्रकृति कृत बाह्य रूप माना जाता है। आदर्शवाद

का आधार तर्क व बुद्धि – आदर्शवाद का तृतीय आधार तर्क एवं बुद्धि कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध में प्लेटो और सुकरात के विचार एक प्रकार से मिलते हैं कि मनुष्य में ही तर्क की शक्ति है और तर्क द्वारा ही विचार प्राप्त होते हैं।

आदर्शवाद का आधार मानव – आदर्शवाद का चौथा आधार मानव माना जा सकता है। आत्मा उच्चाशय एवं विचार, तर्क और बुद्धि से युक्ति होती है। मानव वह प्राणधारी है जिसमें अनुभव करने उन्हें धारण करने और उन्हें उपयोग में लाने की विलक्षण शक्ति होती है। मानव सभी प्राणियों व पशुओं में सर्वश्रेष्ठ इसी कारण गिना जाता है क्योंकि महान अनुभवकर्ता है और उसे गौरव एवं आधार दिया जाता है, और ईश्वर के अन्य सभी कार्यों पर उसका आधिपत्य होता है। मनुष्य में जो आत्मा होती है वास्तव में विभिन्न उच्च्व शक्तियों उसमें निहित होती है, उसी में तर्क, बुद्धि, मूल्य नैतिक धार्मिक और आध्यात्मिक सत्ताएँ होती हैं।

आदर्शवाद का आधार राज्य – आदर्शवाद का पाँचवा आधार हेगेल ने राज्य को माना है। इस सम्बन्ध में कर्निंघम का विचार है कि हेगेल के लिये राज्य महान आत्मा का संसार में सर्वोच्च्च प्रकाशन है जिसका समय के द्वारा विकास सबसे बड़ा आदर्श है। राज्य दैवी विचार है इस पृथ्वी पर जिसका अस्तित्व है। इससे यह ज्ञात होता है कि राज्य की संकल्पना आदर्शवादी आधार के कारण ही है।

आदर्शवादी दर्शन के प्रमुख तत्त्व

तत्त्व मीमांसा– सभी आदर्शवादियों की मान्यता है कि यह जगत् भौतिक नहीं अपितु मानसिक या आध्यात्मिक है। जगत् विचारों की एक व्यवस्था, तर्कना का अग्रभाग है। प्रकृति मन की क्रिया या प्रतीति है। भौतिक सृष्टि का आधार मानसिक जगत् है, जो उसे समझता है तथा मूल्य प्रदान करता है। मानसिक जगत् के अभाव में भौतिक जगत् अर्थहीन हो जायेगा। आदर्शवाद के अनुसार यह जगत् सोद्देश्य है।

स्व अथवा आत्मा– आदर्शवादी स्व की प्रकृति आध्यात्मिक मानता है तथा तत्त्वमीमांसा में "स्व" को सर्वोपरि रखता है। यदि अनुभव का जगत् ब्रह्म सृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है, तो अनुभवकर्ता मनुष्य तो और भी अधिक महत्त्वपूर्ण होना चाहिये। आदर्शवाद के अनुसार "स्व" की प्रकृति स्वतंत्र है उनमें संकल्प

शक्ति है, अतः वह भौतिक सृष्टि में परिवर्तन लाने की क्षमता रखता है। क्रम विकास की प्रक्रिया में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ इकाई है।

ज्ञान मीमांसा में आदर्शवाद- आदर्शवादी ज्ञान एव सत्य की विवचेना विवेकपूर्ण रीति से करते हैं। वे ब्रह्माण्ड में उन सामान्य सिद्धान्तों की खोज करने का प्रयास करते है, जिनको सार्वभौमिक सत्य का रूप प्रदान किया जा सके। इस दृष्टि कोण से उनकी धारणा है कि सत्य का अस्तित्व है, परन्तु इसलिये नहीं है कि वह व्यक्ति या समाज द्वारा निर्मित किया गया है। सत्य को खोजा जा सकता है। जब उसकी खोज कर ली जायेगी तब वह निरपेक्ष सत्य होगा आदर्शवादियों की मान्यता है कि ईश्वर या निरपेक्ष मन या आत्मा सत्य है।

मूल्य आदर्शवाद- शिव क्या है? इसके विषय में आदर्शवादियों का कहना है कि सद्जीवन को ब्रह्माण्ड से सामंजस्य स्थापित करके ही व्यतीत किया जा सकता है। निरपेक्ष सत्ता का अनुकरण करके ही शिव या अच्छाई की प्राप्ति की जा सकती है। आदर्शवादियों का यह भी मानना है कि जब मनुष्य का आचरण, सावैभौमिक नैतिक नियम के अनुसार होता है तो वह स्वीकार्य होता है। सुन्दर क्या है? आदर्शवादियों के अनुसार यह निरपेक्ष सत्ता सुन्दरम् है। इस जगत् में जो कुछ भी सुन्दर है, यह केवल उसका अंशमात्र है, अर्थात् उसकी प्रतिच्छाया है। जब हम कला के किसी कार्य की सौन्दर्यानुभूति करते हैं, तब हम ऐसा इसलिए करते हैं, क्योंकि वह निरपेक्ष सत्ता का सच्चा प्रतिनिधि है। आदर्शवादी संगीत को सर्वोत्तम प्रकार की सौन्दर्यात्मक रचना मानते हैं।

आदर्शवाद के प्रमुख सिद्धान्त

थामस और लैंग ने आदर्शवाद के निम्नलिखित सिद्धान्त बताये हैं-

- वास्तविक जगत् मानसिक एवं आध्यात्मिक है।
- सच्ची वास्तविकता आध्यात्मिकता है।
- आदर्शवाद का मनुष्य में विश्वास है क्योंकि वह चिन्तन तर्क एवं बुद्धि के विशेष गुणों से परिपूर्ण है।
- जो कुछ मन संसार को देता है, केवल वही वास्तविकता है।
- ज्ञान का सर्वोच्च रूप अन्तदृष्टि है एवं आत्मा का ज्ञान सर्वोच्च है।
- सत्यं शिवं सुन्दरं के तीनों शाश्वत मूल्य हैं और जीवन में इनकी प्राप्ति करना अत्यन्तावश्यक है।

- इन्द्रियों से सच्ची वास्तविकता को नहीं जाना जा सकता है।
- प्रकृति में दिखायी देने वाली आत्मनिर्भरता भ्रमपूर्ण है।
- ईश्वर आत्मा से सम्बन्ध रखता है।
- भौतिक और प्राकृतिक संसार- जिसे विज्ञान जानता है, वास्तविकता की अपूर्ण अभिव्यक्ति है।
- परम आत्मा में जो कुछ विद्यमान है वही सत्य है और आध्यात्मिक तत्त्व है।
- विचार, ज्ञान, कला, नैतिकता और धर्म जीवन के महत्त्वपूर्ण पहलू है।
- हमारा विवेक और मानसिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि ही सत्य ज्ञान प्राप्त करने का सच्चा साधन है।
- मनुष्य का विकास उसकी भौतिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों पर निर्भर करता है।

एकत्ववाद

भारतीय दर्शन परंपरा में एकत्ववाद अद्वैतवाद (ऐब्सोल्यूटिज्म) के रूप में ही प्राप्त होता है। अद्वैतवाद दर्शन की वह धारा, जिसमें एक तत्त्व को ही मूल माना जाता है, वेद तथा उपनिषदों में एक पुरुष या एक ब्रह्म का सर्वप्रथम प्रतिपादन मिलता है। गीता तथा पुराणों में इस सिद्धांत का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। बादरायणकृत ब्रह्मसूत्र में भी, कुछ व्याख्याताओं के अनुसार, अद्वैतवाद प्रतिपादित है। बौद्ध दर्शन का महायान प्रस्थान यद्यपि अद्वयवादी कहा जाता है, तथापि अद्वयवाद और अद्वैतवाद में भेद नगण्य है। गौड़पाद ने तार्किक दृष्टि से अद्वैत सिद्धांत का प्रतिपादन किया। भर्तृहरि तथा मंडन मिश्र ने भी गौड़पाद का अनुसरण किया। अद्वैतवाद के इतिहास में शंकराचार्य का नाम सर्वोच्च माना जाता है। उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखकर आचार्य शंकर ने अद्वैतवाद को अत्यंत दृढ़ भूमिका प्रदान की। शंकर के बाद सुरेश्वर, वाचस्पति, पद्मपाद, अप्पय्यदीक्षित, श्रीहर्ष, मधुसूदन सरस्वती आदि ने शांकर अद्वैतवाद की सैद्धांतिक पुष्टि की। केवल वैदिक परंपरा में ही नहीं, अवैदिक परंपरा में भी अद्वैतवाद का विकास हुआ। शैव और शाक्त तंत्रों में से अनेक तंत्र अद्वैतवादी हैं। महायान दर्शन को आधार मानकर चलने वाले सिद्ध योगी सरहपाद आदि अद्वैतवादी ही हैं। पश्चिम में अद्वैतपाद का आभास सर्वप्रथम सुकरात के

दर्शन में मिलता है। प्लेटो के दर्शन में अद्वैतवाद बहुत स्पष्ट हो जाता है। मध्ययुगीन दर्शन तथा ईसाई संतों के विचारों से परिपुष्ट होता हुआ अद्वैतवाद इमानुएल कांट के दर्शन के रूप में विकसित होता है। कांट ने ही अद्वैत दर्शन को वैज्ञानिक तर्क से पुष्ट किया और हीगेल ने कांट द्वारा निर्मित भूमिका पर अद्वैतवाद का सदृढ़ भवन खड़ा किया। अब भी पश्चिम में अद्वैतवादी विचारक विद्यमान हैं। आधुनिक भारतीय विचारकों में स्वामी विवेकानंद, श्री अरविंद घोष प्रभृति चिंतकों ने अद्वैतवाद का ही परिपोषण किया है।

यद्यपि देश काल के भेद से तथा मनोवैज्ञानिक कारणों से अद्वैतवाद के नाना रूप मिलते हैं, तथापि उनमें प्राय: गौण विवरणों के सिवाय बाकी सारी बातें समान हैं। यहाँ विभिन्न अद्वैतवादों में पाई जाने वाली समान विशेषताओं का ही उल्लेख किए जाने का प्रयास है।

अनुभव से हम नानारूपात्मक जगत् का ज्ञान करते हैं। हमारा अनुभव सर्वदा सत्य नहीं होता। उसमें भ्रम की संभावना बनी रहती है। भ्रम सर्वदा दोष से उत्पन्न होता है। यह दोष ज्ञाता और ज्ञेय दोनों में से किसी में रह सकता है। ज्ञातागत दोष या अज्ञान विषय के वास्तविक ज्ञान का बाधक है। हमारे अनुभव का प्रसार दिक्काल की परिधि में ही होता है। दिक्काल से परे वस्तु का ज्ञान संभव नहीं है। अत: ज्ञाता वस्तु को दिक्कालसापेक्ष देखता है, वस्तु को उसके स्वरूप में (थिंग-इन-इटसेल्फ) वह नहीं देख पाता। इस दृष्टि से सारा ज्ञान अपूर्ण हैं। ज्ञेय वस्तु भी सर्वदा स्वतंत्र रूप से नहीं रह सकती। एक वस्तु दूसरी वस्तु पर आधारित है, अत: वस्तु की निरपेक्ष सत्ता संभव नहीं। सभी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, अत: वे अपनी सत्ता के लिए अपने कारणों पर निर्भर करती हैं और वे कारण अपने उत्पादकों पर निर्भर हैं। इसलिए वस्तु का ज्ञान भी ज्ञेय की दृष्टि से अधूरा है।

यदि हम तर्क के द्वारा ऐसे तत्त्व की कल्पना तक पहुँचते हैं जो अज्ञेय और कारणातीत है तो उस तत्त्व का इस संसार से कोई न कोई संबंध होना चाहिए। किंतु कारणातीत होते हुए भी उस तत्त्व को संसार का मूल इसलिए माना गया है कि वही तो एक निरपेक्ष आधार है जिस पर सापेक्ष संसार की सृष्टि होती है। उस आधार के बिना संसार का अस्तित्व असंभव है। ज्ञाता और ज्ञेय उस एक तत्त्व के ही सीमित से दिखलाई देने वाले रूप हैं। इनसे यदि ससीमता हटा दी जाए तो ये परस्पर भेदरहित होकर एकाकार हो जाएँगे।

आवरण का नाश सत्कर्मों के अनुष्ठान से, योग द्वारा चित्तशुद्धि से अथवा ज्ञानमात्र से होता है। इस दृष्टि से अनेक मार्ग प्रचलित होते हैं। इन मार्गों का उद्देश्य एक है और वह है वस्तु की ससीमता में आग्रह का विनाश। आग्रह के नाश के बाद वस्तु वस्तु के रूप में नहीं रहेगी और ज्ञाता ज्ञाता के रूप में नहीं होगा। सब एक तत्त्व होगा जिसमें ज्ञाता ज्ञेय, स्व पर का भेद किसी प्रकार संभव नहीं है। इस अभेद के कारण ही उस अवस्था को वाणी और मन से परे कहा गया है। *नेति नेति* कहने से केवल ससीम वस्तुओं की ससीमता का अभावप्रख्यापन मात्र संभव है।

इस तत्त्व को सत्ता, ज्ञान का आनंद की दृष्टि से देखने के कारण सत्, चित् या आनंदात्मक ब्रह्म कहते हैं। मन वाणी से परे होने के कारण शून्य, ज्ञान का चरम आधार होने के कारण विज्ञप्ति, वाक् और अर्थ का प्रतिष्ठापक होने के कारण स्फोट या शब्द तत्त्व, समग्र प्रपंच में अनुस्यूत होकर निवास करने के कारण पूर्ण (ऐब्सोल्यूट) इसी एक तत्त्व के दृष्टिभेद से अनेक नाम हैं। यह भी विडंबना ही है कि नाम–रूप–जाति से परे वर्तमान तत्त्व को भी नाम दिया जाता है। किंतु यह नाम भी शब्दव्यवहार का सहायक होने के कारण सापेक्ष अत: मिथ्या है। अद्वैतवाद का चरम दर्शन मौन अर्थात् शब्दातीत है।

अद्वैतवाद (संस्कृत शब्द, अर्थात् 'एकत्ववाद' या 'दो न होना'), भारत के सनातन दर्शन वेदांत के सबसे प्रभावशाली मतों में से एक है। गौड़पाद ने बौद्ध महायान के शून्यता दर्शन को अपना आधार बनाया था। उन्होंने तर्क दिया कि 'द्वैत' है ही नहीं; मस्तिष्क जागृत अवस्था या स्वप्न में माया में ही विचरण करता है; और सिर्फ 'अद्वैत' ही परम सत्य है। माया की अज्ञानता के कारण यह सत्य छिपा हुआ है। किसी वस्तु का स्वयं या किसी अन्य वस्तु से किसी वस्तु का अस्तित्व में आना है ही नहीं। अंतत: कोई वैयक्तिक स्व या जीव नहीं है, केवल आत्मा या परमात्मा है, जिसमें जीव अस्थायी रूप से अंकित हो जाता है, बिल्कुल उसी तरह जैसे पूर्णाकाश का एक अंश किसी पात्र में भर जाता है और पात्र के टूटने पर वह वैयक्तिक आकाश फिर से पूर्णाकाश का अंश हो होता है।

शंकराचार्य ने गौड़पाद के सिद्धांतों के अनुसार मुख्यत: वेदांत सूत्रों पर अपनी टीका 'शारीरक - भाष्य' में इस मत का विकास किया। शंकर ने तर्क दिया कि उपनिषद ब्रह्म (परम तत्त्व) की प्रकृति की शिक्षा देते हैं और सिर्फ

अद्वैत ब्रह्म ही परम सत्य है। शंकराचार्य ब्रह्म के दो रूप मानते हैं, एक अविद्या उपाधि सहित हैं, जो जीव कहलाता है (सोपाधिक) और दूसरा सब प्रकार की उपाधियों से रहित शुद्ध ब्रह्म (निरुपाधिक) है। अविद्या की अवस्था में ही उपास्य, उपासक आदि सब व्यवहार हैं और अद्वैतमत के अनुसार जगत् मिथ्या है। जिस प्रकार स्वप्न मिथ्या होते हैं तथा जिस प्रकार अँधेरे में रस्सी को देखकर सांप का भ्रम होता है, उसी प्रकार इस भ्रान्ति, अविद्या, अज्ञान के कारण ही जीव, इस मिथ्या संसार को सत्य मान रहा है। वास्तव में न कोई संसार की उत्पत्ति, न प्रलय, न कोई साधक, न कोई मुमुक्षु (मुक्ति) चाहने वाला है, केवल ब्रह्मा ही सत्य है और कुछ नहीं। अद्वैतमत के अनुसार यह अंतरात्मा न कर्ता है, न भोक्ता है, न देखता है, न दिखाता है। यह निष्क्रिय है। सूर्य के प्रतिबिम्ब की भांति, जीवों की क्रियाएं, बुद्धि पर चिदाभास से हो रही हैं। भारत में परब्रह्म के स्वरूप के बारे में कई विचारधाराएं हैं, जिसमें द्वैत, अद्वैत या केवलाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत जैसी कई सैद्धांतिक विचारधाराएं हैं। जिस आचार्य ने जिस रूप में ब्रह्म को जाना उसी रूप में उसका वर्णन किया। इतनी विचारधाराएं होने पर भी सभी यह मानते हैं कि भगवान ही इस सृष्टि का नियंता है। अद्वैत विचारधारा के संस्थापक शंकराचार्य हैं, वे मानते हैं कि संसार में ब्रह्म ही सत्य है। बाकी सब मिथ्या है (ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या)। जीव केवल अज्ञान के कारण ही ब्रह्म को नहीं जान पाता जबकि ब्रहम तो उसके ही अंदर विराजमान है। उन्होंने अपने ब्रह्मसूत्र में 'अहं ब्रह्मास्मि' ऐसा कहकर अद्वैत सिद्धांत बताया है। वल्लभाचार्य अपने शुद्धाद्वैत दर्शन में ब्रह्म, जीव और जगत, तीनों को सत्य मानते हैं, जिसे वेदों, उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र, गीता तथा श्रीमद्भागवत द्वारा उन्होंने सिद्ध किया है। अद्वैत सिद्धांत चराचर सृष्टि में भी व्याप्त है। जब पैर में काँटा चुभता है तब आखों से पानी आता है और हाथ काँटा निकालने के लिए जाता है। ये अद्वैत का एक उत्तम उदाहरण है।

भारतीय चिन्तन एवं दर्शन परम्परा में एकत्ववाद वह दर्शन है जिसमें जगत् का अन्तिम सत्य एक माना जाता है। अनेक स्थानों पर इसे एकेश्वरवाद या अद्वैतवाद के अर्थ में भी प्रयुक्त किया जाता है।

द्वैतवाद एवं बहुत्ववाद

द्वैतवाद भारतीय चिन्तन एवं दर्शन परम्परा में एक सिद्धान्त है, जिसे द्वित्ववाद

के नाम से भी जाना जाता है। इसमें कहा गया है कि सम्पूर्ण सृष्टि के अन्तिम सत् दो हैं। इसका एक सत् की बात करने वाले एकत्वाद या अद्वैतवाद के सिद्धान्त से मतभेद है, परन्तु दो से अधिक सत् वाले बहुत्ववाद के अर्थ में भी द्वैतवाद का प्रयोग कहीं कहीं मिलता है। यह वेदान्त है क्योंकि इसे श्रुति, स्मृति, एवं ब्रह्मसूत्र के प्रमाण मान्य हैं। ब्रह्म को प्राप्त करना इसका लक्ष्य है, इसलिए यह ब्रह्मवाद है। इसमें जीव, जगत्, तथा ब्रह्म के परस्पर भिन्न माना जाता है। इस सिद्धान्त के प्रथम प्रवर्तक थे मध्वाचार्य (1199-1303)।

द्वैतवाद 13वीं शताब्दी से शुरु हुआ। यह अलग बात है कि इसके प्रवर्तक मध्वाचार्य ने इसे पारम्परिक मत बताया है। इस मत के अनुयायी सम्पूर्ण भारत में मिलते हैं परन्तु महाराष्ट्र, कर्नाटक, तथा गोवा से लेकर कर्नाटक तक के पश्चिमी तट में इनकी संख्या काफी है। इनके ग्यारह मठों में से आठ कर्नाटक में ही हैं।

मध्वाचार्य ने श्रुति तथा तर्क के आधार पर सिद्ध किया कि संसार मिथ्या नहीं है, जीव ब्रह्म का आभास नहीं है, और ब्रह्म ही एकमात्र सत् नहीं है। उन्होंने इस प्रकार अद्वैतवाद का खंडन किया तथा पांच नित्य भेदों को सिद्ध किया। ये हैं -

1. ईश्वर का जीव से नित्य भेद है।
2. ईश्वर का जड़ पदार्थ से नित्य भेद है।
3. जीव का जड़ पदार्थ ने नित्य भेद है।
4. एक जीव का दूसरे जीव से नित्य भेद है।
5. एक जड़ पदार्थ का दूसरे जड़ पदार्थ ने नित्य भेद है।

इस कारण इस सिद्धान्त के पंचभेद सिद्धान्त भी कहा जाता है।

द्वैतवाद के खण्डन के लिए अद्वैतवादी मधुसूदन सरस्वती न्यायामृत तथा अद्वैतसिद्धि जैसे ग्रंथों की रचना की, जबकि जयतीर्थ ने वादावली तथा व्यासतीर्थ ने न्यायामृत नामक ग्रंथों की रचना अद्वैतवाद के खंडन के लिए की थी। रामाचार्य ने न्यायामृत की टीका तरंगिणी नाम से लिखी तथा अद्वैतवाद का खंडन कर द्वैतवाद की पुनर्स्थापना की। फिर तरंगिणी की आलोचना में ब्रह्मानंद सरस्वती ने गुरुचन्द्रिका तथा लघुचंद्रिका नामक ग्रन्थ लिखे। इन ग्रन्थों को गौड़-ब्रह्मानंदी भी कहा जाता है। अप्पय दीक्षित ने अपने ग्रंथ मध्वमतमुखमर्दन में द्वैतवाद का खंडन किया। वनमाली ने गौड़-ब्रह्मानंदी तथा मध्वमुखमर्दन का खंडन किया तथा द्वैतवाद को अद्वैतवाद के खंडनों से बचाया।

इस प्रकार के खण्डन-मण्डन का आधार उपनिषदों की भिन्न व्याख्याएं रही हैं। उदाहरण के लिए – तत्त्वमसि का अर्थ अद्वैतवादियों ने 'वह तू है' किया जबकि मध्वाचार्य ने इसका अर्थ निकाला 'तू उसका है'। इसी प्रकार अयम् आत्मा ब्रह्म का अद्वैतवादियों ने अर्थ निकाला – यह आत्मा ब्रह्म है, तथा द्वैतवादियों ने अर्थ निकाला – यह आत्मा वर्धनशील है। इस प्रकार व्याख्याएं भिन्न होने से मत भी भिन्न हो गये।

द्वैतवाद में कुल दस पदार्थ माने गये हैं – द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य, तथा अभाव। प्रथम पांच तथा अन्तिम वैशेषिक पदार्थ हैं। विशिष्ट, अंशी, शक्ति, तथा सादृश्य को जोड़ देना ही मध्व मत की वैशेषिक मत से विशिष्टता है।

इस मत में द्रव्य बीस हैं – परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत, आकाश, प्रकृति, गुणत्रय, अहंकारतत्त्व, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, मात्रा, भूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना, काल, तथा प्रतिबिम्ब।

भारतीय दर्शन में द्वैतवाद और बहुत्ववाद का स्पष्ट विभाजन करना दुष्कर है। कथित रूप से मध्वाचार्य प्रतिष्ठापित द्वैतवादी वेदांत और सांख्य मत को द्वैतवाद की श्रेणी में कुछ हद तक रखा जा सकता है। तत्त्वमीमांसा में द्वैतवाद यह विश्वास है कि दो प्रकार की वास्तविकता है: भौतिक (भौतिक) और चेतन (आध्यात्मिक)। कहा जा सकता है कि द्वैतवाद एक ऐसी स्थिति है, जिसमें मन और शरीर एक दूसरे से अलग होते हैं, और यह मानसिक प्रकृति कुछ मामलों में, गैर-भौतिक प्रकृति में होती है।

द्वैतवाद या द्वैत संस्कृत भाषा का शब्द जिसका अर्थ 'द्विवाद' है। वेदांत की रूढ़िवादी दार्शनिक प्रणाली का एक महत्त्वपूर्ण मत है। द्वैतवाद दर्शन से सम्बन्धित एक वाद है, जिसके प्रणेता मध्वाचार्य थे। 'एक' से अधिक की स्वीकृति होने के कारण यह 'द्वैत' तथा 'त्रैत' दोनों ही नामों से अभिहित है। इस दर्शन के अनुसार प्रकृति, जीव तथा परमात्मा तीनों का अस्तित्व मान्य है। मध्वाचार्य ने 'भाव' और 'अभाव' का अंकन करते हुए भ्रम का मूल कारण अभाव को माना है। इस मत में विभिन्न दर्शनों में से अनेक तत्त्व गृहीत हैं। द्वैत में भेद की धारणा का बड़ा महत्त्व है। भेद ही पदार्थ की विशेषता कहलाता है, अत: उसे 'सविशेषाभेद' कहा गया। वह दर्शन जो द्वैतवाद के नाम से प्रसिद्ध है

सबसे अधिक लोकप्रिय विचारधारा है। ये विचारधारा ईश्वर को विश्व का स्रष्टा तथा शासक मानती है। द्वैतवादियों का मानना है कि विश्व में तीन वस्तुओं का अस्तित्व है : ईश्वर, प्रकृति तथा जीवात्मा। ईश्वर, प्रकृति तथा जीवात्मा तीनों ही नित्य हैं परन्तु प्रकृति और जीवात्मा में परिवर्तन होते रहते हैं जबकि ईश्वर में कोई परिवर्तन नहीं होता अर्थात् वो शाश्वत है। द्वैतवादी मानते हैं कि ईश्वर सगुण है अर्थात् उसमें गुण विद्यमान हैं, जैसे दयालुता, न्याय, शक्ति इत्यादि। साथ ही साथ ये मान्यता है कि ईश्वर में अच्छे मानवीय गुण तो हैं परन्तु ख़राब गुण नहीं जैसे अंधकार के बिना प्रकाश। कुल मिलाकर द्वैतवादी मानवीय ईश्वर की पूजा करते हैं लेकिन ये मानते हुए कि उसमें केवल शुभ मानवीय गुण हैं। परन्तु उनके सिद्धांत स्वविरोधी प्रतीत होते हैं।

सांख्य दृश्यमान विश्व को प्रकृति-पुरुष मूलक मानता है। उसकी दृष्टि से केवल चेतन या केवल अचेतन पदार्थ के आधार पर इस चिदचिदात्मक जगत् की संतोषप्रद व्याख्या नहीं की जा सकती। इसीलिए लौकायतिक आदि जड़वादी दर्शनों की भाँति सांख्य न केवल जड़ पदार्थ ही मानता है और न अनेक वेदांत संप्रदायों की भाँति वह केवल चिन्मात्र ब्रह्म या आत्मा को ही जगत् का मूल मानता है। अपितु जीवन या जगत् में प्राप्त होने वाले जड़ एवं चेतन, दोनों ही रूपों के मूल रूप से जड़ प्रकृति, एवं चिन्मात्र पुरुष इन दो तत्त्वों की सत्ता मानता है।

जड़ प्रकृति सत्त्व, रजस् एवं तमस् - इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम है। ये गुण 'बल च गुणवृत्तम्' न्याय के अनुसार प्रति क्षण परिगामी हैं। इस प्रकार सांख्य के अनुसार सारा विश्व त्रिगुणात्मक प्रकृति का वास्तविक परिणाम है। शंकराचार्य के अद्वैत वेदांत सिद्धान्त के अनुसार विवर्त, अर्थात् असत् कार्य अथवा मिथ्या प्रतिभास मात्र नहीं है। इस प्रकार प्रकृति को पुरुष की ही भाँति अज और नित्य मानने तथा विश्व को प्रकृति का वास्तविक परिणाम अर्थात् सत् कार्य मानने के कारण सांख्य सच्चे अर्थों में बाह्यार्थ या वस्तुवादी दर्शन हैं। किंतु जड़ बाह्ययथार्थवाद भोग्य होने के कारण किसी चेतन भोक्ता के अभाव में अपार्थक या अर्थशून्य अथवा निष्प्रयोजन है, अत: उसकी सार्थकता के लिए सांख्य चेतन पुरुष या आत्मा को भी मानने के कारण अध्यात्मवादी दर्शन हो जाता है।

मूलत: दो तत्त्व मानने पर भी सांख्य परिणामिनी प्रकृति के परिणामस्वरूप

तेईस अवांतर तत्त्व भी मानता है। तत्त्व का अर्थ है 'सत्य ज्ञान'। इसके अनुसार प्रकृति से महत् या बुद्धि, उससे अहंकार, तामस, अहंकार से पंच-तन्मात्र (शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध) एवं सात्त्विक अहंकार से ग्यारह इंद्रिय (पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेंद्रिय तथा उभयात्मक मन) और अंत में पंच तन्मात्रों से क्रमशः आकाश, वायु, तेजस्, जल तथा पृथ्वी नामक पंच महाभूत, इस प्रकार क्रमशः तेईस तत्त्व उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार मुख्यामुख्य भेद से सांख्य दर्शन 25 तत्त्व मानता है। ऐसा माना जाता है, प्राचीनतम सांख्य ईश्वर को 26वाँ तत्त्व मानता रहा होगा।

इसी तरह वैशेषिक दर्शन सात पदार्थ को स्वीकृत करता है वहीं न्याय मत में सोलह पदार्थ माने गए हैं, इन्हें भी बहुत्ववादी दर्शन ही कहा जाएगा।

धर्म और धर्मी

आत्मबल यथार्थ उन्नति है, और मोक्ष परम कल्याण है, धर्म के ये दोनों फल होते हैं, धर्म से आत्मबल बढ़ता है। आत्मबल से लोक परलोक दोनों सुखदायी बन जाते हैं। आत्मबल के साथ सम्पदाएं भी चली आती हैं, और यदि कोई विपद् भी आ जाती है, तो आत्मबल उस को भी सम्पद ही बना लेता है, क्योंकि आत्मबल वाला विपद् में भी सम्पद के समान इी सन्तुष्ट रहता है, प्रत्युत विपद् उमके आत्मबल को और बढ़ा देती है। अतएव आत्मबल ही मनुष्य की यथार्थ उन्नति है। और यही परलोक में साथ जाकर उच्च जन्म और स्वर्ग का हेतु होता है। और फिर यह धर्म ही है, जो हृदय को शुद्ध बनाता है, जिससे आत्म का तत्त्वज्ञान हो कर मोक्ष मिलता है।

इस प्रकार धर्म अभ्युदय का तो साक्षात् कारण है, और मोक्ष का तत्त्वज्ञान द्वारा कारण है। ऐसे धर्म का प्रतिपादक शास्त्र और उस की प्रमाणता स्वयंसिद्ध है: **'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्'**

अर्थात् उस के प्रतिपादन से वेद की प्रमाणता है। धर्म का जो लक्षण पूर्व किया है, कि 'यथार्थ उन्नति और मोक्ष की सिद्धि जिनसे हो वह धर्म है' वैसे धर्म के प्रतिपादन करने से धर्म के विषय में वेद को प्रमाण माना जाता है, क्योंकि जो जिस विषय में प्रामाणिक अर्थ का प्रतिपादन करता है, वही उस विषय में प्रमाण होता है। संगति-लक्षण और प्रमाण से धर्म की सिद्धि करके, धर्म से मोक्ष की सिद्धि में वैशेषिक दर्शन शास्त्र की उपयोगिता दिखलाता है।

धर्म विशेषप्रसूताद् द्रव्यगुण गुणकर्म सामान्य विशेष समवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयस।

अर्थात् धर्म विशेष से उत्पन्न हुआ जो, द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय (इतने) पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य से तत्त्वज्ञान और उससे मोक्ष होता है। इस जन्म वा पूर्व जन्म में किये पुण्य कर्म से द्रव्यादि पदार्थों का तत्त्वज्ञान होता है, तब मनुष्य अपने स्वरूप को शरीर से अलग साक्षात् करके बन्धन से मुक्त हो जाता है।

धर्म, धर्मी, साधर्म्य, वैधर्म्य–जिस का स्वरूप किसी दूसरे के आश्रित प्रतीत हो, उसको धर्म कहते हैं, और जो उस का आश्रय है, उसे धर्मी कहते हैं। गन्ध–धर्म हैं, क्योंकि वह पुष्प के आश्रित प्रतीत होता है, पुष्प धर्मी है, क्योंकि गन्ध उस के आश्रय से है। दौड़ना धर्म है, क्योंकि वह घोड़े के आश्रित प्रतीत होता है, घोड़ा धर्मी है, क्योंकि वह दौड़ का आश्रय है। गन्ध में भी–गन्धपना धर्म है, क्योंकि वह गन्ध में प्रतीत होता है, गन्ध धर्मी है, क्योंकि उसमें गन्धपन प्रतीत होता है। इस तरह गन्ध पुष्प का धर्म है, पर गन्धपन का धर्मी भी है। इसी प्रकार सर्वत्र धर्मधर्मिभाव जाना जा सकता है। जो अनेकों का सांझा धर्म हो; उसको साधर्म्य अथवा समान धर्म कहते हैं, जैसे 'गन्ध पुष्प और इत्र का साधर्म्य=समान धर्म है। और जो अपना विशेष धर्म हो; उस को वैधर्म्य वा विशेष धर्म वा विरुद्ध धर्म कहते हैं; जैसे पंखड़ियां पुष्प का इतर से वैधर्म्य है, और द्रवत्व इत्र का पुष्प से वैधर्म्य है। इस प्रकार साधर्म्य और वैधर्म्य द्वारा जब समस्त पदार्थों का तत्त्वज्ञान हो जाता है, तब पुरुष मुक्त होता है।

यहां पदार्थों के उद्देशक्रम में सब से पहले द्रव्य इसलिए कहे, कि वे ही मुख्य धर्मी हैं। उन से पीछे गुण, क्योंकि गुण सब द्रव्यों में पाए जाते हैं। उन से पीछे कर्म, क्योंकि कर्म भी द्रव्यों में ही रहते हैं। उनसे भी पीछे उनमें समान विशेष प्रतीति के नियामक सामान्य विशेष और उसके बाद समवाय का कथन किया गया है।

कार्यकारणवाद

कारण जो कार्य के पूर्व में नियत रूप से रहता है और अन्यथासिद्धि न हो उसे कारण कहते हैं। केवल कार्य के पूर्व में रहने से ही कारणत्व नहीं हाता, कार्य के उत्पादन में साक्षात् सहयोगी भी इसे होना चाहिए। अन्यथासिद्ध में उन

तथाकथित कारणों का समावेश होता है जो कार्य की उत्पत्ति के पूर्व रहते हैं पर कार्य के उत्पादन में साक्षात् उपयोगी नहीं है। जैसे कुम्हार का पिता अथवा मिट्टी ढोनेवाला गधा घट रूप कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध है।

कार्य-कारण-संबंध अन्वय व्यतिरेक पर आधारित है। कारण के होने पर कार्य होता है, कारण के न होने पर कार्य नहीं होता। प्रकृति में प्राय: कार्य-कारण-संबंध स्पष्ट नहीं रहता। एक कार्य के अनेक कारण दिखाई देते हैं। हमें उन अनेक दिखाई देने वाले कारणों में से वास्तविक कारण ढूँढना पड़ता है। इसके लिए सावधानी के साथ एक-एक दिखाई देनेवाले कारणों को हटाकर देखना होगा कि कार्य उत्पन्न होता है या नहीं। यदि कार्य उत्पन्न होता है तो जिसको हटाया गया है वह कारण नहीं है। जो अंत में शेष बच रहता है वही वास्तविक कारण माना जाता है। यह माना गया है कि यह कार्य का एक ही कारण होता है अन्यथा अनुमान की प्रामाणिकता नष्ट हो जाएगी। यदि धूम के अनेक कारण हों तो धूम के द्वारा अग्नि का अनुमान करना गलत हो जाएगा। जहाँ अनेक कारण दिखाई देते हैं वहाँ कार्य का विश्लेषण करने पर मालूम होगा कि कार्य के अनेक अवयव कारण के अनेक अवयवों से उत्पन्न हैं। इस प्रकार वहाँ भी कार्यविशेष का कारणविशेष से संबंध स्थापित किया जा सकता है। कारणविशेष के समूह से कार्यविशेष के समूह का उत्पन्न मानना भूल है। वास्तव में समूह रूप में अनेक कारणविशेष समूहरूप में कार्य को उत्पन्न नहीं करते। वे अलग-अलग ही कार्यविशेष के कारण हैं।

कार्य के पूर्व में नियत रूप से रहना दो तरह का हो सकता है। कारण कार्य के उत्पादन के पहले तो रहता है परंतु कार्य के उस कारण से पृथक् उत्पन्न होता है। कारण केवल नवीन कार्य के उत्पादन में सहकारी रहता है। मिट्टी से घड़ा बनता है अत: मिट्टी घड़े का कारण है और वह कुम्हार भी जो मिट्टी को घड़े का रूप देता है। कुम्हार के व्यापार के पूर्व मिट्टी मिट्टी है और घड़े को कोई अस्तित्व नहीं है। कुम्हार के सहयोग से घड़े की उत्पत्ति होती है अत: घड़ा नवीन कार्य है जो पहले कभी नहीं था। इस सिद्धांत को आरंभवाद कहते हैं। कारण नवीन कार्य का आरंभक होता है, कारण स्वयं कार्य रूप में परिणत नहीं होता। यद्यपि कार्य के उत्पादन में मिट्टी, कुम्हार, चाक आदि वस्तुएँ सहायक होती हैं परंतु ये सब अलग-अलग कार्य (घड़ा) नहीं हैं और न तो ये सब सम्मिलित रूप में घड़ा इन

सबके सहयोग से उत्पन्न परंतु इन सबसे विलक्षण अपूर्व उपलब्धि है। अवयवों से अवयवी पृथक् सत्ता है; इसी सिद्धांत के आधार पर आरंभवाद का प्रवर्तन होता है। भारतीय दर्शन में न्यायवैशेषिक इस सिद्धांत के समर्थक हैं।

कार्य का कारण के साथ संबंध दूसरी दृष्टि से भी देखा जा सकता है। मिट्टी से घड़ा बनता है अत: घड़ा अव्यक्त रूप में (मिट्टी के रूप में) विद्यमान है। यदि मिट्टी न हो तो चूँकि घड़े की अव्यक्त स्थिति नहीं है अत: घड़ा उत्पन्न नहीं होता। वस्तुविशेष की कार्यविशेष के कारण हो सकते हैं। यदि कार्य कारण से भिन्न नवीन सत्ता हो तो कोई वस्तु किसी कारण से उत्पन्न हो सकती है। तिल की जगह बालू से तेल नहीं निकलता क्योंकि प्रकृति में एक सत्ता का नियम काम कर रहा है। सत् से ही सत् की उत्पत्ति होती है। असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती–यह प्रकृति के नियम से विपरीत होगा। सांख्ययोग का यह सिद्धांत सत्कार्यवाद कहलाता है। इसे परिणामवाद भी कहते हैं। इसके अनुसार कारण कार्य के रूप में परिणत होता है, अत: तत्त्वत: कारण कार्य से पृथक् नहीं है।

इन दोनों मतों से भिन्न एक मत और है जो न तो कारण को आरंभक मानता है और न परिणामी। कारण व्यापाररहित सत्ता है। उसमें कार्य की उत्पत्ति के लिए कोई व्यापार नहीं होता। कारण कूटस्थ तत्त्व है। परंतु कूटस्थता के होते हुए भी कार्य उत्पन्न होता है क्योंकि द्रष्टा को अज्ञान आदि बाह्य उपाधियों के कारण कूटस्थ कारण अपने शुद्ध रूप में नहीं दिखाई देता। जैसे भ्रम की दशा में रस्सी की जगह सर्प का ज्ञान होता है, वैसे ही कारण की जगह कार्य दिखाई पड़ता है। अत: कारणकार्य का भेद तात्त्विक भेद नहीं है। यह भेद औपचारिक है। इस मत को, जो अद्वैत वेदांत में स्वीकृत है, विवर्तवाद कहते हैं। आरंभवाद में कार्य कारण पृथक् हैं, परिणामवाद में उनमें तात्त्विक भेद न होते हुए भी अव्यक्त–व्यक्त–अवस्था का भेद माना जाता है, परंतु विवर्तवाद में न तो उनमें तात्त्विक भेद है और न अवस्था का। कार्य कारण का भेद भ्रांत भेद है और भ्रम से जायमान कार्य वस्तुत: असत् है। जब तक दृष्टि दूषित है तभी वह व्यावहारिक दशा में वे दोनों पृथक दिखाई देते हैं। दृष्टिदोष का विलय होते ही कार्य का विलय और कारण के शुद्ध रूप के ज्ञान का उदय होता है।

कारण और करण

अनेक कारणों में जो असाधारण और व्यापारवान् कारण होता है उसे करण

कहते हैं **साधकतमं करणम्**। असाधारण का अर्थ है कार्य की उत्पत्ति में साक्षात् सहायक होना। जैसे, घड़े की उत्पत्ति में दण्ड, जिससे चाक चलता है। वही दण्ड जिससे उस घड़े को बनाने वाला चाक चल रहा है अन्य दण्ड नहीं।

कारण की तीन विधाएँ मानी गई हैं।

1. उपादान कारण वह कारण है जिसमें समवाय संबंध से रहकर कार्य उत्पन्न होता है। अर्थात् वह वस्तु जो कार्य के शरीर का निर्माण करती है, उपादान कहलाती है। मिट्टी घड़े का या तागे कपड़े के उपादान कारण हैं। इसी को समवायि कारण भी कहते हैं।
2. असमवायि कारण समवायि कारण में समवाय संबंध से रहकर कार्य की उत्पत्ति में सहायक होती है। तागे का रंग, तागे में, जो कपड़े का समवायि कारण है अत: तागे का रंग कपड़े का असमवायि कारण कहा जाता है। समवायि कारण द्रव्य होता है, परंतु असमवायि कारण गुण या क्रिया रूप होता है।
3. निमित्त कारण समवायि कारण में गति उत्पन्न करता है जिससे कार्य की उत्पत्ति होती है। कुम्हार घड़े का निमित्त है क्योंकि वही उपादान से घड़े का निर्माण करता है। समवायि और असमवायि से भिन्न अन्यथासिद्धशून्य सभी कारण निमित्त कारण कहे जाते हैं।

अरस्तू के अनुसार कारण की चौथी विधा भी होती है जिसे प्रयोजक (फ़ाइनल) कारण कहता है। जिस उद्देश्य से कार्य का निर्माण होता है वह उद्देश्य भी कार्य का कारण होता है। पानी रखने के लिए घड़े का निर्माण होता है अत: वह उद्देश्य घड़े का प्रयोजक कारण है। इस चौथी विधा का निमित्त में ही समावेश हो सकता है। किन्तु भारतीय कार्यकारण सिद्धान्त में इसे परिगणित नहीं किया गया है अथवा इसे निमित्त कारण में ही अनुस्यूत माना गया है।

कारण के बारे में आरंभवाद का सिद्धांत निमित्त कारण को महत्त्व देता है। किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए कार्य का निर्माण होता है, यदि वह उद्देश्यस्थित वस्तुओं से पूर्ण हो जाए तो कार्य की आवश्यकता ही न रहेगी। अत: निमित्त से पृथक कार्य की स्थिति है और उसकी पूर्ति के लिए निमित्त उपादान में गति देता है। जीवों को उनके कर्मफल का भोग कराने के उद्देश्य से ईश्वर संसार का निर्माण करता है। परिणामवाद का जोर उपादान कारण पर है। गति वस्तु को दी नहीं

जाती, गति तो वस्तु के स्वभाव का अंग है। अत: मुख्य कारण गति (निमित्त) नहीं अपितु गति का आधार (उपादान प्रकृति) है। अपने आप उपादान कार्य रूप में परिणत होता है, केवल अव्यक्तता के आवरण को दूर करने के लिए तथा सुप्त गति को उद्‌बुद्ध करने के लिए किसी निमित्त की आवश्यकता होती है। यहाँ ध्यान देने की बात है कि सांख्यमत में कारण से कार्य का परिणाम, न्यायदर्शन में उत्पत्ति और अद्वैत वेदान्त में विवर्त माना गया है।

सत्कार्यवाद : परिणामवाद और विवर्तवाद

सत्कार्यवाद सांख्यदर्शन का मुख्य आधार है। इस सिद्धान्त के अनुसार, बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। फलत:, इस जगत् की उत्पत्ति शून्य से नहीं किसी मूल सत्ता से है। यह सिद्धान्त बौद्धों के शून्यवाद के विपरीत है।

कार्य, अपनी उत्पत्ति के पूर्ण कारण में विद्यमान रहता है। कार्य अपने कारण का सार है। कार्य तथा कारण वस्तुत: समान प्रक्रिया के व्यक्त-अव्यक्त रूप हैं। सत्कार्यवाद के दो भेद हैं- परिणामवाद तथा विवर्तवाद। परिणामवाद से तात्पर्य है कि कारण वास्तविक रूप में कार्य में परिवर्तित हो जाता है। जैसे तिल तेल में, दूध दही में रूपांतरित होता है। विवर्तवाद के अनुसार परिवर्तन वास्तविक न होकर आभास मात्र होता है। जैसे-रस्सी का सर्प के रूप में आभासित होना।

असदकारणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।।

अर्थात् सत्कार्यवाद (सत्कार्यम्) इसलिए युक्तिसंगत है क्योंकि असत् किसी कार्य के प्रति कारण नहीं हो सकता है। (असदकारणात्), किसी विशेष कार्य के लिए विशेष कारण को ग्रहण किया जाता है (उपादानग्रहणात्) (ऐसा नहीं होने पर) किसी भी कारण से सारे कार्य संभव होने लगेंगे (सर्वसम्भवाभावात्) योग्य कारण से ही कार्य उत्पन्न होते हैं। (शक्तस्य शक्यकरणात्) और कारण का जैसा स्वभाव है कार्य का स्वभाव भी तदनुरूप होगा (कारणभावाच्च)।

विवर्तवाद आचार्य शंकर का प्रसिद्ध सिद्धांत है, इसे रज्जु-सर्पवाद भी कहते हैं। जिस प्रकार अंधकार में रस्सी में भ्रम से सर्प भासित होता है, उसी प्रकार अज्ञान से आत्मा में अहम् भासित होता है, महसूस होता है। आत्मा से पृथक् अहम् की सत्ता नहीं है। यह अहम् ही विचारक बनकर विचारों - विकारों

को जन्म देता है, मन को जन्म देता है। इसीलिए आत्मा में प्रवेश के लिए मन का शांत होना (चित्त शुद्धि) आवश्यक है। शांत मन में यह अहंवृत्ति अनुभूत होती है। इस अहंवृत्ति के अनुसन्धान (मैं कौन हूँ?) से उसके अधिष्ठान आत्मा का अपरोक्ष अनुभव होता है। सर्प की निवृत्ति होती है और रज्जु का बोध होता है। दार्शनिक क्षेत्र में, विवर्तवाद यह सिद्धान्त है कि ब्रह्म ही सत्य है और यह जगत् उसके विवर्त या भ्रम के कारण कल्पित रूप है। यह सिद्धांत ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानता है। यह अद्वैत वेदांत के अध्यास के सिद्धांत को निर्देशित और निरूपित करता है जो उपनिषद् के उस कथन से समीकृत है कि जब अज्ञानी भोक्ता का अज्ञान समाप्त हो जाता है तो वह वस्तु के वास्तविक स्वरूप का ज्ञाता हो जाता है। **ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति**। ब्रह्म और जगत् के बीच के संबंध को निर्माता और निर्मित के रूप में देखे जाने पर यह सत्कार्यवाद के सामान्य सिद्धांत का अनुपालक हो जाता है। किन्तु शंकर सत्कार्यवादी होते हुए भी परिणामवाद के सिद्धांत को सही नहीं मानते क्योंकि **विवर्तवाद** के अनुसार परिवर्तन वास्तविक न होकर चिदाभास मात्र होता है। जैसे-रस्सी में सर्प का आभास होना। किन्तु परिणामवाद कारण से कार्य के रूपांतरण को वास्तविक मानता है। अद्वैत वेदांत के अनुसार जगत् ब्रह्म का विवर्त मात्र है। ब्रह्म में जो परिवर्तन प्रतीत होता है वह प्रतिभासिक है, यह कोई वास्तविक परिवर्तन नहीं हैं। 'रज्जु में सर्प', शुक्तिका में रजत' आदि कतिपय उदाहरण है। ब्रह्म ही वास्तविकता है और वास्तविकता अद्वैत है। सत्ता अद्वैत है और अनेकता आरोपित है।

परिणामवाद : सांख्यमतानुसार, कार्य को कारण का परिणाम या विकार कहा गया है। जैसे दूध का परिणाम या विकार है दही। उसी तरह, अन्य दृष्टान्त हैं, जैसे मिट्टी का कार्य है घट, स्वर्ण से कुंडल या कंगन। जैसा कि ईश्वर कृष्ण सांख्य कारिका में स्पष्ट करते हैं :

असदकारणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्। शक्तस्य शक्यकरणात् कारण-भावाच्च सत्कार्यम्। अर्थात् 'असत्' वस्तु किसी अर्थ के प्रति कारण नहीं हो सकता, किसी कार्य विशेष के लिए विशेष कारण को ही स्वीकार (ग्रहण) किया जाता है। (ऐसा नहीं होने पर) प्रत्येक करण से प्रत्येक कार्य उत्पन्न होने लगेगा और कारण तथा कार्य की प्रकृति समरूप होती है। अतएव सत्कार्यवाद ही संगत है।

असत्कार्यवाद

कारणवाद का न्यायदर्शनसम्मत सिद्धांत जिसके अनुसार कार्य उत्पत्ति के पहले नहीं रहता। न्याय के अनुसार उपादान और निमित्त कारण अलग-अलग कार्य उत्पन्न करने की पूर्ण शक्ति नहीं है किंतु जब ये कारण मिलकर व्यापारशील होते हैं तब इनकी सम्मिलित शक्ति से ऐसा कार्य उत्पन्न होता है जो इन कारणों से विलक्षण होता है। अतः कार्य सर्वथा नवीन होता है, उत्पत्ति के पहले इसका अस्तित्व नहीं होता। कारण केवल उत्पत्ति में सहायक होते हैं। सांख्यदर्शन इसके विपरीत कार्य को उत्पत्ति के पहले कारण में स्थित मानता है, अतः उसका सिद्धांत सत्कार्यवाद कहलाता है। न्यायदर्शन यथार्थवादी है। इसके अनुसार उत्पत्ति के पूर्व कार्य की स्थिति मानना अनुभवविरुद्ध है। अतएव न्याय-वैशेषिक असत्कार्यवाद के सिद्धान्त को मानता है। न्याय के इस सिद्धांत पर आक्षेप किया जाता है कि यदि असत् कार्य उत्पन्न होता है तो शशश्रृंग जैसे असत् कार्य भी उत्पन्न होने चाहिए। किंतु न्यायमंजरी में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि असत्कार्यवाद के अनुसार असत् की उत्पत्ति नहीं मानी जाती। अपितु जो उत्पन्न हुआ है उसे उत्पत्ति के पहले असत् माना जाता है।

आरंभवाद

कार्य संबंधी न्यायशास्त्र का सिद्धांत। कारणों से कार्य की उत्पत्ति होती है। उत्पत्ति के पहले कार्य नहीं होता। यदि कार्य उत्पत्ति के पहले रहता तो उत्पादन की आवश्यकता ही न होती। इसी सार्वजनीन अनुभव के आधार पर न्यायशास्त्र में उत्पन्न कार्य को उत्पत्ति के पहले असत् माना जाता है। बहुत से कारण (कारणसामग्री) एकत्र होकर किसी पहले के असत् कार्य का निर्माण आरंभ करते हैं। इसी असत् कार्य के निर्माण के सिद्धांत को आरंभवाद कहा जाता है।

इस सिद्धांत के विपरीत सत्कार्यवादी दर्शन में चूंकि कार्य उत्पत्ति के पहले सत् माना गया है, वहाँ कार्य का नए सिरे से आरंभ नहीं माना जाता। केवल दिए हुए कार्य को स्पष्ट कर देना ही कार्य की उत्पत्ति होती है। यही कारण है कि सांख्य, वेदांत आदि दर्शनों में आरंभवाद का खंडन किया गया है और परिणामवाद या विवर्तवाद की स्थापना की गई है।

भूतार्थवादी न्यायदर्शन को उत्पत्ति के पूर्व कार्य की स्थिति मानना हास्यास्पद लगता है। यदि तेल पहले से विद्यमान है तो तिल को पेरने का कोई प्रयोजन नहीं।

यदि तिल को पेरा जाता है तो सिद्ध है कि तेल पहले नहीं था। यदि मान भी लिया जाय कि तिल में तेल छिपा था, पेरने से प्रकट हो गया तो भी आरंभवाद की ही पुष्टि होती है। उपभोग (व्यवसाय) योग्य तेल पहले नहीं था और पेरने के बाद ही उस तेल की उत्पत्ति हुई। अतः न्याय के अनुसार कार्य सर्वदा अपने कारणों से नवीन होता है।

स्वभाववाद

सभी कार्य वस्तु के स्वभाव से घटित होते हैं, प्रत्येक पदार्थ के अपने गुण-धर्म होते हैं। उनका इसी तरह होना वस्तु का स्वभाव है। अतः स्वभाव ही सभी कार्य के प्रति एक मात्र कारण है।

स्वभाववाद के समर्थन की महत्त्वपूर्ण युक्ति यह है कि यदि यह जगत् किसी एक तत्त्व के प्रयत्न से निर्मित होता तो उसका वैसा ज्ञान भी सम्भव होता किन्तु ऐसे किसी तत्त्व का ज्ञान नहीं होता। जगत् निर्माण की प्रक्रिया में शरीर का उदाहरण देते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार पाँच महाभूत अपने आप में स्वतन्त्र और भिन्न होते हुए भी एक होकर शरीर का निर्माण करते हैं उसी प्रकार पञ्चमहाभूतों से यह जगत् बना है। स्वभाववाद में स्वभाव शब्द का तात्पर्य क्या है इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि यह व्यापक, निर्गुण, विषयों में प्रवृत्ति का कारण, नित्य, अपरिवर्तनशील और अचेतन है। स्वभाव को अन्य उदाहरणों से स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार जल के प्रभाव से शान्त हो जाना अग्नि का स्वभाव है उसी प्रकार गर्भस्थ शिशु के अंगों की उत्पत्ति एवं विकास तथा बाद में उस अचेतन शरीर का आत्मा से संयोग स्वाभाविक है। जगत् की विचित्रता का कारण स्वभाव को बताते हुए कहा है कि जिस प्रकार काँटों की तीक्ष्णता तथा नाना पशु-पक्षियों के भावों के भेद में किसी का प्रयास दिखायी नहीं देता है अपितु यह स्वभाव से ही आता है, उसी प्रकार जगत् की उत्पत्ति और विचित्रता का कारण कोई एक भिन्न तत्त्व नहीं अपितु तत्त्वों का स्वभाव है।

खण्ड दो
सत्तामीमांसा

चतुर्थ अध्याय
पदार्थ : स्वरूप विवेचन एवं भेद

पदार्थ : स्वरूप और भेद

पदार्थ अर्थात् पद का अर्थ। जो भी है, वह पद है, उसका अर्थ है। उन सभी पदों को हम कई रूपों में ग्रहण करते हैं। भारतीय दर्शन परंपरा में कपिपय दर्शन संप्रदाय है जो पदार्थ भेद पर विचार करते हैं। जैसे, शैव आगम के अनुसार तीन पदार्थ हैं–पति, पशु, पाश; जबकि पाशुपत मत–कार्य, कारण, योग, निधि, दुःखान्त। भाट्टमीमांसा के अनुसार, द्रव्य, गुण, क्रिया, जाति, अभाव।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार– द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव।

जैन दर्शन के अनुसार– आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, जीव, अजीव।

प्राभाकर मीमांसा दर्शन के अनुसार आठ पदार्थः – द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतंत्रता, शक्ति, सादृश्य, संख्या।

माध्व दर्शन के अनुसार दस पदार्थः –द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य, अभाव।

न्याय दर्शन के अनुसार सोलह पदार्थः –प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्यंत, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रह स्थान।

मनुष्य सर्वदा से ही विभिन्न प्रकार की प्राकृतिक वस्तुओं द्वारा चारों तरफ से घिरा हुआ है। सृष्टि के आविर्भाव से ही वह स्वयं की अन्तःप्रेरणा से परिवर्तनों का अध्ययन करता रहा है– परिवर्तन जो गुण व्यवहार की रीति इत्यादि में आये हैं– जो प्राकृतिक विज्ञान के विकास का कारक बना। सम्भवतः इसी अन्तः प्रेरणा के कारण महर्षि कणाद ने 'वैशेषिक दर्शन' का आविर्भाव किया।

महर्षि कणाद ने भौतिक राशियों (अमूर्त) को द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय के रूप में नामाङ्कित किया है। '**धर्मविशेषप्रसूताद्द्रव्यगुण-कर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्माभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्।।**' वैशेषिक सूत्र 1.1.4'

यहाँ 'द्रव्य' के अन्तर्गत ठोस (पृथ्वी), द्रव (अप्), ऊर्जा (तेजस्), गैस (वायु), प्लाज्मा (आकाश), समय (काल) एवं मुख्यतया सदिश लम्बाई के सन्दर्भ में दिक्, 'आत्मा' और 'मन' सम्मिलित हैं। प्रकृत प्रसङ्ग में वैशेषिक दर्शन का अधिकारपूर्वक कथन है कि उपर्युक्त द्रव्यों में प्रथम चार सृष्टि के प्रत्यक्ष कारक हैं, और आकाश, दिक् और काल, सनातन और सर्वव्याप्त हैं। वैशेषिक दर्शन 'आत्मा' और 'मन' को क्रमशः इन्द्रिय ज्ञान और अनुभव का कारक मानता है, अर्थात् 'आत्मा' प्रेक्षक है और 'मन' अनुभव प्राप्त करने का उसका उपकरण। इस हेतु पदार्थमय संसार की भौतिक राशियों की सीमा से बहिष्कृत रहने पर भी, वैशेषिक दर्शन द्वारा 'आत्मा' और 'मन' को भौतिक राशियों में सम्मिलित करना न्याय संगत प्रतीत होता है, क्योंकि ये तत्त्व प्रेक्षण और अनुभव के लिये नितान्त आवश्यक हैं। तथापि आधुनिक भौतिकी के अनुसार 'आत्मा' और 'मन' के व्यतिरिक्त, प्रस्तुत प्रबन्ध में 'पृथ्वी' से 'दिक् पर्यन्त वैशेषिकों के प्रथम सात द्रव्यों की विवेचना करते हुए भौतिकी में उल्लिखित उनके प्रतिरूपों के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है।

भारत के विभिन्न दर्शनकारों ने पदार्थों की भिन्न-भिन्न संख्या मानी है। गौतम ने 16 पदार्थ माने, वेदान्तियों ने चित् और अचित् दो पदार्थ माने, रामानुज ने उनमें एक 'ईश्वर' और जोड़ दिया। सांख्यदर्शन में 25 तत्त्व हैं। और मीमांसकों ने 8 तत्त्व माने हैं। वस्तुतः इन सभी दर्शनों में 'पदार्थ' शब्द का प्रयोग किसी एक विशिष्ट अर्थ में नहीं किया गया, प्रत्युत उन सभी विषयों का, जिनका विवेचन उन-उन दर्शनों में है, पदार्थ नाम दे दिया गया।

महर्षि कणाद ने वैशेषिकसूत्र में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय नामक छः पदार्थों का निर्देश किया और प्रशस्तपाद प्रभृति भाष्यकारों ने प्रायः कणाद के मन्तव्य का अनुसरण करते हुए पदार्थों का विश्लेषण किया और अभाव नामक सातवें पदार्थ को भी परिगणित किया।

शिवादित्य (10वीं शती) से पूर्ववर्ती आचार्य चन्द्रमति के अतिरिक्त प्रायः

अन्य सभी प्रख्यात व्याख्याकारों ने पदार्थों की संख्या छः ही मानी, किन्तु शिवादित्य ने सप्तपदार्थी में कणादोक्त छः पदार्थों में अभाव को भी जोड़ कर सप्तपदार्थवाद का प्रवर्तन करते हुए वैशेषिक चिन्तन में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया। यद्यपि चन्द्रमति (6ठी शती) ने दशपदार्थी (दशपदार्थशास्त्र) में कणादसम्मत छः पदार्थो में शक्ति, अशक्ति, सामान्य-विशेष और अभाव को जोड़कर दश पदार्थों का उल्लेख किया था, किन्तु चीनी अनुवाद के रूप में उपलब्ध इस ग्रन्थ का और इसमें प्रवर्तित दशपदार्थवाद का वैशेषिक के चिन्तन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। हाँ, ऐसा प्रतीत होता है कि अभाव के पदार्थत्व पर चन्द्रमति के समय से लेकर शिवादित्य के समय तक जो चर्चा हुई, उसको मान्यता देते हुए ही शिवादित्य ने अभाव का पदार्थत्व तो प्रतिष्ठापित कर ही दिया। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि कणाद ने आरम्भ में मूलतः द्रव्य, गुण और कर्म ये तीन ही पदार्थ माने थे। शेष तीन का प्रवर्तन बाद में हुआ। अधिकतर यही मत प्रचलित है, फिर भी संक्षेपतः छः पदार्थों का परिगणन कणाद ने ही कर दिया था।

विभिन्न विद्वानों द्वारा किये गये अनुसन्धानों द्वारा जो तथ्य सामने आये हैं, उनके अनुसार वैशेषिक तत्त्व-मीमांसा में प्रमुख रूप से चार मत प्रचलित हुए, जिन्हें

1. त्रिपदार्थवाद,
2. षट्पदार्थवाद,
3. दशपदार्थवाद तथा
4. सप्तपदार्थवाद कहा जा सकता है।

न्याय और वैशेषिक समान तन्त्र माने जाते हैं। वैशेषिकसूत्र और न्यायसूत्र की रचना से पूर्व संभवतः आन्वीक्षिकी के अन्तर्गत इन दोनों शास्त्रों का समावेश होता रहा, किन्तु कालान्तर में न्यायशास्त्र में प्रमाणों के विवेचन को और वैशेषिक शास्त्र में प्रमेयों के विश्लेषण को प्रमुखता दी गई जिससे कि दोनों का विकास पृथक्-पृथक् रूप में हुआ। बाद के कतिपय प्रकरण ग्रन्थों में फिर इन दोनों शास्त्रों का समन्वय करने का प्रयास किया गया, पर वस्तुतः ऐसे उत्तरकालीन ग्रन्थों में भी कुछ न्यायप्रधान हैं और कुछ वैशेषिकप्रधान। न्याय के आचार्यों ने गौतम प्रवर्तित सोलह पदार्थों में वैशेषिकसम्मत सात प्रदार्थों का, तथा वैशेषिक के व्याख्याकारों ने वैशेषिकसम्मत सात पदार्थों में न्यायसम्मत सोलह पदार्थों का

अन्तर्भाव करते हुए इन दोनों दर्शनों में समन्वय करने का प्रयत्न किया, किन्तु इससे इन दोनों दर्शनों की अपनी-अपनी विशिष्टता पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ा और दोनों शास्त्रों का पृथक्-पृथक् प्राधान्य आज भी बना हुआ है।

वैशेषिक दर्शन में तत्त्व शब्द के स्थान पर पदार्थ शब्द को प्रयुक्त किया गया है। पदार्थ शब्द का व्युत्पत्तिमूलक' आशय यह है कि कोई भी ऐसी वस्तु, जिसकों कोई नाम दिया जा सके अर्थात जो शब्द से संकेतित की जा सके और इन्द्रिय-ग्राह्य हो वह अर्थ कहलाती है।' कतिपय विद्वानों के अनुसार जिस प्रकार हाथी के पद (चरण-चिह्न) को देखकर हाथी का ज्ञान किया जा सकता है, उसी प्रकार पद (शब्द) से अर्थ का ज्ञान होता है। वैशेषिकसूत्र में पदार्थ का लक्षण उपलब्ध नहीं होता। पदार्थ शब्द का प्रयोग भी सूत्रकार ने केवल एक बार किया है।'

प्रशस्तपाद के अनुसार पदार्थ वह है '**जिसमें अस्तित्व, अभिधेयत्व और ज्ञेयत्व हो।**'

ये तीनों ही लक्षण-साधर्म्य के आधायक हैं, अर्थात पदार्थों के ये तीन समान धर्म हैं। प्रशस्तपाद का यह भी कहना है कि नित्य द्रव्यों के अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थ किसी पर आश्रित रहते हैं। आश्रित का अर्थ है परतन्त्र रूप से रहना, न कि समवाय सम्बन्ध से। प्रशस्तपाद द्वारा प्रयुक्त अस्तित्व, अभिधेयत्व और ज्ञेयत्व इन तीन शब्दों का विश्लेषण उत्तरवर्ती आचार्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि से किया। उनमें से कतिपय आचार्यों के निम्नलिखित कथन ध्यान देने योग्य हैं-

अस्तित्व

- न्यायकन्दलीकार श्रीधर (10वीं शती) का यह कथन है कि किसी वस्तु का जो स्वरूप है, वही उसका अस्तित्व है।' जबकि व्योमशिवाचार्य (9वीं शती) के विचार में 'अस्ति' या 'सत्' इस प्रकार का ज्ञान ही अस्तित्व कहलाता है।
- न्यायलीलावतीकार वल्लभाचार्य (12वीं शती) सत्तासंबन्धबुद्धि को ही अस्तित्व कहते हैं।
- जगदीश तर्कालंकार (16वीं शती) ने सूक्ति नामक टीका में भावत्वविशिष्ट स्वरूपसत्त्व को ही 'अस्तित्व' कहा है।

- सामान्यतया अस्तित्व और सत्ता को पर्यायवाची माना जा सकता है, किन्तु वैशेषिक दर्शन के अनुसार इनमें भेद है। अस्तित्व सत्ता की अपेक्षा अधिक व्यापक है, क्योंकि सत्ता में भी अस्तित्व है। अस्तित्व किसी वस्तु का अपना स्वरूप है, यह सत्ता सामान्य की तरह समवाय सम्बन्ध से वस्तु में नहीं रहता। वह तो वस्तु का अपना ही विशेष रूप है।
- वैशेषिकों के अनुसार सत्ता केवल द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन में ही समवाय सम्बन्ध से रहती है। इन तीन में रहने के कारण उसको सामान्य कहा जाता है, न कि अधिक व्यापकता के कारण। इस प्रकार सत्ता 'सामान्य' का और 'अस्तित्व' स्वरूप-विशेष का द्योतक है। अस्तित्व व्यापक है और सत्ता व्याप्य।

अभिधेयत्व

अभिधान का आशय है- नाम या शब्द। शब्दों से जिसका उल्लेख हो सके, वह अभिधेय है।

- उदयनाचार्य ने अभिधेय को ही पदार्थ माना है।'
- अन्नंभट्ट भी प्रमुखतया अभिधेयत्व को ही पदार्थों का सामान्य लक्षण मानते हैं।' संसार में जो भी वस्तु है, उसका कोई नाम है। अत: वह अभिधेय है। जो अभिधेय है, वह प्रमेय है और जो प्रमेय है, वह पदार्थ है। कोई भी अर्थ (वस्तु) जो संज्ञा से संज्ञित हो, पदार्थ कहलाता है।

ज्ञेयत्व

- शिवादित्य के अनुसार पदार्थ वे हैं, जो प्रमिति के विषय हों।' पदार्थ अज्ञेय नहीं, अपितु ज्ञेय हैं। विश्व के सभी पदार्थ घट-पट आदि, जिनका अस्तित्व है, वे ज्ञेय अर्थात ज्ञानयोग्य भी हैं। अज्ञेय विषय की सत्ता को स्वीकार नहीं किया जा सकता। जिसका अस्तित्व है वह सत है, जो सत है वह ज्ञेय है, और जो ज्ञेय है वह अभिधेय है।
- वस्तुत: अस्तित्व, अभिधेयत्व और ज्ञेयत्व में से किसी एक लक्षण से भी पदार्थ की परिभाषा की जा सकती है, क्योंकि अस्ति या सत् शब्द द्वारा उल्लिखित भाव पदार्थों के संदर्भ में अभिधेयत्व और ज्ञेयत्व कोई भिन्न संकल्पनाएं नहीं हैं। वस्तुत: अस्तित्व, अभिधेयत्व और ज्ञेयत्व ये भाव पदार्थों के समान धर्म है। ऐसा प्रतीत होता है कि पदार्थ की परिभाषा में

'अस्तित्व' शब्द के समावेश से यह संकेतित किया गया है कि वस्तु वैसी है, जैसा उसका स्वरूप है, न कि वैसी, जैसी हम उसे कल्पित करते हैं। इससे विज्ञानवाद का निरसन होता है और शून्यवाद का भी प्रत्याख्यान हो जाता है। ज्ञेयत्व से संशयवाद और अज्ञेयवाद तथा अभिधेयत्व से यह बताया गया है कि वस्तुज्ञान की अभिव्यक्ति आवश्यक है। प्रतीत होता है कि प्रशस्तपाद भी इस बात से परिचित थे कि इन तीनों लक्षणों में से किसी एक से भी पदार्थ को परिभाषित किया जा सकता है, किन्तु उन्होंने अपने पूर्ववर्ती या समसामयिक आचार्यों की विभिन्न शंकाओं के समाधान के लिए तीनों को एक साथ रखकर यह प्रतिपादित किया कि –

1. पदार्थ सत् है,
2. पदार्थ अभिधेय है और
3. पदार्थ ज्ञेय है। फिर भी परवर्ती कई ग्रन्थकारों ने इनमें से किसी एक को भी पदार्थ का समग्र लक्षण मानकर काम चला लिया।

- उदयनाचार्य और अन्नंभट्ट ने अभिधेयत्व को और शिवादित्य ने ज्ञेयत्व और प्रमेयत्व को प्रमुखता दी। 'अस्तित्व' को छोड़ने का कारण संभवत: यह था कि इनके समय तक अभाव की सप्तम पदार्थ के रूप में प्रतिष्ठा हो रही थी या हो चुकी थी। यद्यपि वस्तुओं के धर्म उनसे पृथक् नहीं होते, फिर भी धर्म और धर्मी के भेद से उनमें पार्थक्य माना जाता है। द्रव्यादि छ: पदार्थों में अस्तित्व, अभिधेयत्व और ज्ञेयत्व ये तीन समान धर्म हैं। किन्तु श्रीधर का इस संदर्भ में यह कथन है कि ये तीनों अवस्था-भेद से पृथक् हैं, मूलत: तो वे वस्तु के स्वरूप के ही द्योतक हैं।' वस्तुत: ये तीनों शब्द एक ही वस्तु के तीन पक्षों का आख्यान करते हैं। यह ज्ञातव्य है कि अस्तित्व और अभाव की संकल्पनाओं में पारस्परिक विरोध का प्रत्याख्यान करते हुए श्रीधर ने यह बताया कि सत्ता केवल द्रव्य, गुण और कर्म में रहती है, जबकि अस्तित्व अन्य सभी पदार्थों में, और यहाँ तक कि अभाव में भी रहता है। विश्वनाथ पंचानन ने भी अस्तित्व को अभावसहित सातों पदार्थों का साधर्म्य माना। अत: सत्ता और अस्तित्व दो भिन्न-भिन्न संकल्पनाएँ हैं।' यद्यपि श्रीधर द्वारा निरूपित 'अस्तित्व' के अर्थ को ग्रहण करने पर अभाव के पदार्थत्व का समाधान हो सकता है। पर शंकर मिश्र ने इस समस्या का

समाधान यह कहकर किया कि ज्ञेयत्व और अभिधेयत्व तो छः पदार्थों के उपलक्षण मात्र हैं, वस्तुतः उनमें सातों पदार्थों का साधर्म्य है। इतने सारे आख्यान-प्रत्याख्यानों के रहते हुए भी पदार्थ के लक्षण में 'अस्तित्व' की संघटकता अभाव के परिप्रेक्ष्य में अभी भी विवादास्पद बनी हुई है। फिर भी संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्रशस्तपाद के अनुसार जो सत्, अभिधेय और ज्ञेय है, उसी को पदार्थ कहा जा सकता है।

वैशेषिकों ने पूर्वोक्त प्रकार से सात पदार्थों का उल्लेख किया है और ब्रह्माण्ड की समस्त वस्तुओं को सात वर्गों में वर्गीकृत किया है। पदार्थों की संख्या के सम्बन्ध में वैशेषिक के विभिन्न आचार्यों और विभिन्न दार्शनिकों में मतभेद हैं, द्रव्य का सामान्य स्वरूप, द्रव्यों के लक्षण और उनके प्रमुख भेदों का संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

पंचम अध्याय

द्रव्य : स्वरूप एवं भेद

द्रव्य का लक्षण

- वैशेषिक दर्शन में मुख्यत: इस दृष्टिकोण के आधार पर पदार्थों का विवेचन किया गया कि पदार्थों में समानत: साधर्म्य है और आन्तरिक विभिन्नता उनका निजी वैशिष्ट्य है, जो उन्हें उनके वर्ग की अन्य वस्तुओं से पृथक् करती है। कणाद ने द्रव्य के लक्षण का निरूपण करते हुए यह प्रतिपादित किया कि कार्य का समवायिकारण और गुण एवं क्रिया का आश्रयभूत पदार्थ ही द्रव्य है।' पृथ्वी आदि नौ द्रव्यों का इस लक्षण से युक्त होना ही उनका साधर्म्य है। इस लक्षण को कणादोत्तरवर्ती प्राय: सभी वैशेषिकों ने अपने द्रव्यपरक चिन्तन का आधार बनाया, किन्तु उनके विचारों में कहीं-कहीं कुछ अन्तर भी दिखाई देता है।
- कणाद के उपर्युक्त लक्षण का आशय यह है कि द्रव्य
  1. कर्म का आश्रय है,
  2. गुणों का आश्रय है और
  3. कार्यों का समवायिकारण है।
- कतिपय उत्तरवर्ती आचार्यों ने इन तीनों घटकों में से किसी एक को ही द्रव्य का लक्षण मानने की अवधारणाओं का भी विश्लेषण किया। उनमें से कतिपय ने इस आशंका का भी उद्भावन किया कि 'जो कर्म का आश्रय हो वह द्रव्य है'- यदि कणाद सूत्र का केवल यही एक घटक द्रव्य का लक्षण माना जाएगा, तो इसमें अव्याप्ति दोष आ जायेगा, क्योंकि आकाश, काल और दिक भी पदार्थ हैं जबकि वे निष्क्रिय हैं, उनमें कर्म होता ही नहीं है। यद्यपि प्रत्येक क्रियाशील पदार्थ द्रव्य माना जा सकता है, किन्तु प्रत्येक द्रव्य

को क्रियाशील नहीं माना जा सकता। 'जो गुणों का आश्रय हो वह द्रव्य है' केवल इस घटक को भी कुछ आचार्यों ने द्रव्य का पूर्ण लक्षण मान लिया।' किन्तु इस संदर्भ में यह आपत्ति की जाती है कि 'उत्पत्ति के प्रथम क्षण में द्रव्य गुणरहित होता है।' अत: यह लक्षण अव्याप्त है।

- परन्तु इस आपत्ति का उत्तर देते हुए उदयनाचार्य ने कहा कि द्रव्य कभी भी गुणों के अत्यन्ताभाव का अधिकरण नहीं होता। इस कथन का यह आशय है कि उत्पत्ति के प्रथम क्षण में भले ही द्रव्य में गुणाश्रयता न हो, किन्तु उस समय भी उसमें गुणों का आश्रय बनने की शक्ति तो रहती ही है और इस प्रकार द्रव्य गुणों के अत्यन्ताभाव का अनधिकरण है।'
- चित्सुखाचार्य आदि आचार्यों ने केवल इस घटक को ही पूर्ण लक्षण मानने पर आपत्ति की, अत: इस लक्षण को भी निर्विवाद नहीं कहा जा सकता। बौद्ध दर्शन में धर्मों को क्षण रूप में सत् माना गया है तथा धर्मी या द्रव्य को असत्। पुञ्ज (समुदाय) के अतिरिक्त अवयवी नाम की कोई वस्तु नहीं है। सारे तन्तु अलग कर दिये जाएँ तो पट का कोई अस्तित्व नहीं रहता। अत: द्रव्य की संकल्पना मात्र पर भी विप्रतिपत्ति करते हुए बौद्धों ने यह तर्क दिया कि गुणों से पृथक् द्रव्य की कोई सत्ता नहीं है, जैसे कि चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा रूप आदि का ही ग्रहण होता है। रूप के बिना किसी ऐसी वस्तु का हमें अलग से प्रत्यक्ष नहीं होता, जिसमें वह रूप, गुण रहता हो, जो वस्तुओं को संश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत कर देती है। अत: बौद्ध मतानुसार गुणों से पृथक् द्रव्य का कोई अस्तित्व नहीं है।'
- बौद्धों के इस आक्षेप का उत्तर न्याय-वैशेषिक में इस प्रकार दिया गया है कि यदि द्रव्य जैसे घट केवल रूप (नील) स्पर्श आदि गुणों का समुदायमात्र होता तो एक ही आश्रय द्रव्य के सम्बन्ध में दो भिन्न-भिन्न गुणों जैसे देखने (रूप) और छूने (स्पर्श) का निर्देश नहीं हो सकता था।' अत: यह सिद्ध होता है कि आश्रयभूत द्रव्य (घट) रूप और स्पर्श का समुदाय मात्र नहीं, अपितु उनसे पृथक् एवं स्वतंत्र अवयवी है।
- यह ज्ञातव्य है कि सांख्य में धर्मी और धर्मों का तत्त्वत: अभिन्न माना गया है। वेदान्त में तत्त्वत: धर्मों को असत् और धर्मी को सत् माना गया है।
- वैशेषिक में धर्म और धर्मी दोनों को वस्तुसत् माना गया है। 'जो समवायिकारण

हो वही द्रव्य है' कणादसूत्र के केवल इस तृतीय घटक को ही द्रव्य की पूर्ण परिभाषा मानने की अवधारणा का भी अनेक उत्तरवर्ती आचार्यों ने समर्थन किया है।'

- इन आचार्यों के कथनों का सार यह है कि समवायिकारण वह होता है, जिसमें समवेत रहकर ही कार्य उत्पन्न होता है। प्रत्येक कार्य की समवेतता द्रव्य पर आश्रित है। संयोग और विभाग नामक कार्य विभु द्रव्यों से भी सम्बद्ध है।' इन आचार्यों का यह मत है कि इस आंशिक घटक को ही पूरा लक्षण मानने में कोई दोष नहीं है। कणादसूत्र के तीन घटकों पर आधारित उपर्युक्त तीन पृथक्-पृथक् परिभाषाओं की स्वत:पूर्ण स्वतन्त्र अवधारणाओं के प्रवर्तन के बावजूद सामान्यत: इन तीनों घटकों को एक साथ रखकर तथा तीनों के समन्वित आशय को ध्यान में रखते हुए यह कहना उपयुक्त होगा कि कणाद के अनुसार द्रव्य वह है जो क्रिया का समवायिकारण तथा गुण और कर्म का आश्रय हो। 'द्रव्यत्व जाति से युक्त एवं गुण का जो आश्रय हो, वह द्रव्य है' - इस जातिघटित लक्षण की रीति से भी द्रव्य के लक्षण का उल्लेख प्रशस्तपादभाष्य, व्योमवती, किरणावली, सप्तपदार्थी आदि कतिपय ग्रन्थों में मिलता है, किन्तु चित्सुख ने इस मत की आलोचना करते हुए इस संदर्भ में यह कहा कि द्रव्यत्व जाति में कोई प्रमाण नहीं है। किन्तु सिद्धान्त चन्द्रोदय आदि ग्रन्थों में यह बताया गया है कि द्रव्यत्व जाति की स्वतंत्र सत्ता है और वह प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण से ज्ञात होती है।
- श्रीधराचार्य ने पूर्व पक्ष के रूप में यह शंका उठाई कि जल को देखने के अनन्तर अग्नि को देखने पर 'यह वही है'- ऐसी अनुगत प्रतीति नहीं होती। अत: द्रव्यत्व नाम की कोई जाति कैसे मानी जा सकती है और न्यायकन्दली में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि गुण और कर्म का आश्रय होने के अतिरिक्त द्रव्य की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। अत: द्रव्य उसको कहते हैं, जिसकी स्वप्राधान्य रूप से स्वतन्त्र प्रतीति हो। इसका आशय यह हुआ कि द्रव्य वह है, जिसकी अपनी प्रतीति के लिए किसी अन्य आश्रय की आवश्यकता नहीं होती। यही स्वातन्त्र्य द्रव्य का द्रव्यत्व है, जो जल और आग को एक ही वर्ग में रख सकता है। यद्यपि चित्सुख जैसे आचार्यों ने स्वातन्त्र्य को द्रव्य की जाति के रूप में स्वीकार नहीं किया, तथापि वैशेषिक

नय में श्रीधर के इस मत को उत्तरवर्ती आचार्यों से अत्यधिक आदर प्राप्त हुआ। संक्षेपत: उपर्युक्त कथनों को यदि एक साथ रखा जा सके तो हम यह कह सकते हैं कि पदार्थ वह है, जो किसी कार्य का समवायिकारण हो, गुण और कर्म का आश्रय हो, द्रव्यत्व जाति से युक्त हो, और जिसकी स्वप्राधान्य रूप से स्वतन्त्र प्रतीति हो।'

द्रव्य के भेद

वैशेषिक दर्शन में द्रव्य के पृथ्वी अप, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक, आत्मा और मन ये नौ भेद माने गये हैं।'

- इन नौ द्रव्यों में पृथ्वी, जल, तेज- ये तीन अनित्य द्रव्य हैं,
- वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन- ये छ: नित्य द्रव्य हैं।
- कुछ आचार्य वायु को भी अनित्य द्रव्य मानते हैं।
- भाट्ट मीमांसकों के मतानुसार तमस् और शब्द भी अतिरिक्त द्रव्य हैं।
- किन्तु वैशेषिकों के अनुसार तमस् प्रकाश का अभावमात्र है और शब्द भी पृथक् द्रव्य नहीं है।
- कन्दलीकार के अनुसार आत्मा नामक द्रव्य में ईश्वर का समावेश भी हो जाता है। अत: प्रशस्तपाद आरम्भ में ही यह कह देते हैं कि वैशेषिक नय में द्रव्य केवल नौ ही मान्य हैं। अन्य दर्शनों में इन नौ से अतिरिक्त जो द्रव्य माने गये हैं, वे वैशेषिकों के अनुसार पृथक् द्रव्यों के रूप में स्वीकार करने योग्य नहीं हैं।'
- रघुनाथ शिरोमणि ने दिक्, काल और आकाश को ईश्वर (आत्मा) में अन्तर्भूत मानकर तथा मन को असमवेत भूत कहकर द्रव्यों की संख्या पाँच तक ही सीमित करने की अवधारणा प्रवर्तित की।' किन्तु इस बात का वैशेषिक नय पर कोई प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता।
- वेणीदत्त ने पदार्थमण्डन नामक ग्रन्थ में रघुनाथ शिरोमणि की मान्यताओं का प्रबल रूप से खण्डन किया।' अत: यही मानना ही तर्कसंगत है कि वैशेषिक दर्शन में नौ ही द्रव्य माने गये हैं।
- परिगणित नौ द्रव्यों में से प्रथम पाँच, पंचमहाभूत संज्ञा से अधिक विख्यात हैं।

पृथ्वी

- कणाद के अनुसार रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चारों गुण जिसमें समवाय सम्बन्ध से रहते हों वह पृथ्वी है।'
- प्रशस्तपाद ने इन चारों गुणों में दस अन्य गुण यानी संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और संस्कार जोड़ते हुए यह बताया कि पृथ्वी में चौदह गुण पाये जाते हैं। इनमें से गन्ध पृथ्वी का व्यावर्तक गुण हैं।'
- रूप, रस और स्पर्श विशेष गुण हैं और शेष दस सामान्य गुण हैं। पृथ्वी दो प्रकार की है।
  1. नित्य- परमाणुरूप और
  2. अनित्य परमाणुजन्य कार्यरूप।
- पृथ्वी के कार्यरूप परमाणुओं में
  1. शरीर,
  2. इन्द्रिय और विषय के भेद से तीन प्रकार का द्रव्यारम्भकत्व माना जाता है।
- पार्थिव शरीर भोगायतन होता है। शरीर मुख्यत: पृथ्वी के परमाणुओं से निर्मित और गन्धवान होता है, अत: वैशेषिकों ने शरीर को पार्थिव ही माना है, पञ्चभौतिक नहीं।
- वैशेषिकों के अनुसार पार्थिव परमाणु शरीर के उपादान कारण और अन्य भूतों के परमाणु उनके निमित्त कारण होते हैं, किन्तु लोकप्रसिद्ध के कारण पाँचों भूतों के परमाणुओं को शरीर का उपादान कारण माना जाता है।
- अत: शरीर का पञ्चभौतिकत्व प्रख्यात हो गया, जिस पर वैशेषिक मत का काई ख़ास प्रभाव नहीं पड़ा। शरीर से संयुक्त, अपरोक्ष प्रतीति के साधन तथा अतीन्द्रिय द्रव्य को इन्द्रिय कहा जाता है। इन्द्रियों में से घ्राणेन्द्रिय ही गन्ध को ग्रहण करती है अत: घ्राणेन्द्रिय ही मुख्यत: पार्थिव इन्द्रिय हैं।'
- पार्थिव द्रव्य के तृतीय भेद के अन्तर्गत सभी शरीररहित और इन्द्रियरहित विषय आते हैं।'
- पृथ्वी की परिभाषा में कणाद और प्रशस्तपाद ने अनेक गुणों का उल्लेख

किया था; किन्तु वैशेषिक चिन्तन के विकास क्रम के साथ अन्ततः यह बात मान्य हो गई कि जो गन्धवती हो, वह पृथ्वी है।'

- पृथ्वी का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है।

अप् (जल)

- सूत्रकार कणाद के अनुसार रूप, रस, स्पर्श नामक गुणों का आश्रय तथा स्निग्ध द्रव्य ही जल है।'
- प्रशस्तपाद ने पृथ्वी के समान जल में भी समवाय सम्बन्ध से चौदह गुणों के पाये जाने का उल्लेख किया है।
- जल का रंग अपाकज और अभास्वर शुक्ल होता है।
- यमुना के जल में जो नीलापन है, वह यमुना के स्रोत में पाये जाने वाले पार्थिव कणों के संयोग के कारण औपाधिक है। जल में स्नेह के साथ-साथ सांसिद्धिक द्रवत्व है।'
- जल का शैत्य ही वास्तविक है। उसमें केवल मधुर रस ही पाया जाता है।'
- उसके अवान्तर स्वाद खारापन, खट्टापन आदि पार्थिव परमाणुओं के कारण होते हैं।
- आधुनिक विज्ञान के अनुसार जल सर्वथा स्वादरहित होता है, अतः जल के माधुर्य के सम्बन्ध में वैशेषिकों का मत विचारणीय है।'
- पृथ्वी की तरह जल भी परमाणु रूप में नित्य और कार्यरूप में अनित्य होता है। कार्यरूप जल में शरीर, इन्द्रिय (रसना) और विषय-भेद से तीन प्रकार का द्रव्यारम्भकत्व समवायिकारणत्व माना जाता है। अर्थात जल शरीरारम्भक, इन्द्रियारम्भक और विषयारम्भक होता है। सरिता, हिम, करका आदि विषय रूप जल है। जल का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है।

तेज

- सूत्रकार कणाद के अनुसार 'रूप और स्पर्श (उष्ण) जिसमें समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, वह द्रव्य तेज कहलाता है।' प्रशस्तपाद के अनुसार 'तेज में रूप और स्पर्श नामक दो विशेष गुण तथा संख्या, परिमाण, पृथक्त्व संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व और संस्कार नामक नौ सामान्य गुण रहते हैं। इसका रूप चमकीला शुक्ल होता है।'

- यह उष्ण ही होता है और द्रवत्व इसमें नैमित्तिक रूप से रहता है। तेज दो प्रकार का होता है, परमाणुरूप में नित्य और कार्यरूप में अनित्य। कार्यरूप तेज के परमाणुओं में शरीर, इन्द्रिय और विषय भेद से तीन प्रकार का द्रव्यारम्भकत्व (समवायिकारणत्व) माना जाता है।
- तेजस शरीर अयोनिज होते हैं जो आदित्यलोक में पाये जाते हैं और पार्थिव अवयवों के संयोग से उपभोग में समर्थ होते हैं। तेजस के परमाणुओं से उत्पन्न होने वाली इन्द्रिय चक्षु है। कार्य के समय तेज के परमाणुओं से उत्पन्न विषय (वस्तुवर्ग) चार प्रकार का होता है।
    1. **भौम**- जो काष्ठ-इन्धन से उद्भूत, ऊर्ध्वज्वलनशील एवं पकाना, जलाना, स्वेदन आदि क्रियाओं को करने में समर्थ (अग्नि) है।
    2. **दिव्य**- जो जल से दीप्त होता है और सूर्य, विद्युत् आदि के रूप में अन्तरिक्ष में विद्यमान है।
    3. **औदर्य**- जो खाये हुए भोजन को रस आदि के रूप में परिणत करने का निमित्त (जठराग्नि) है।
    4. **आकरज**- जो खान से उत्पन्न होता है अर्थात् सुवर्ण आदि जो जल के समान अपार्थिव हैं और जलाये जाने पर भी अपने रूप को नहीं छोड़ते। पार्थिव अवयवों से संयोग के कारण सुवर्ण का रंग पीत दिखाई देता है। किन्तु वह वास्तविक नहीं है। सुवर्ण का वास्तविक रूप तो भास्वर शुक्ल है। पूर्वमीमांसकों ने सुवर्ण को पार्थिव ही माना है, तेजस नहीं। उनकी इस मान्यता को पूर्वपक्ष के रूप में रखकर इसका मानमनोहर, विश्वनाथ, अन्नंभट्ट आदि ने खण्डन किया है।
- सुवर्ण से संयुक्त पार्थिव अवयवों में रहने के कारण इसकी उपलब्धि सुवर्ण में भी हो जाती हैं जिस प्रकार गन्ध पृथ्वी का स्वाभाविक गुण है, उसी प्रकार उष्णस्प तेज का स्वाभाविक गुण है। अत: उत्तरवर्ती आचार्यों ने उष्णस्पर्शवत्ता को ही तेज का लक्षण माना है।
- तेज का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है।

वायु

- जिस द्रव्य में स्पर्श नामक गुण समवाय सम्बन्ध से रहे, उसको वायु कहा जाता है।

- सूत्रकार के इस कथन में प्रशस्तपाद ने यह बात भी जोड़ी कि वायु में स्पर्श के अतिरिक्त संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व तथा संस्कार ये गुण भी रहते हैं।
- वायु का स्पर्श अनुष्ण, अशीत तथा अपाकज होने के कारण पृथ्वी आदि के स्पर्श से भिन्न होता है। वायु रूपरहित होता है। वायु भी अणु (नित्य) और कार्य (अनित्य) रूप में दो प्रकार का होता है। कार्यरूप वायु के परमाणुओं में शरीर, इन्द्रिय, विषय और प्राण के भेद से चार प्रकार का द्रव्यारम्भकत्व (समवायिकारणत्व) रहता है।
- विश्वनाथ के अनुसार विषय में ही प्राण का अन्तर्भाव होने से वायवीय शरीर अयोनिज होते हैं। वे वायुलोक में रहते हैं और पार्थिव अणुओं के संयोग से उपभोग में समर्थ होते हैं वायवीय इन्द्रिय त्वक् होती है, जो सारे शरीर में विद्यमान रहती है।' किन्तु इस संदर्भ में जयन्त भट्ट का यह कथन भी ध्यान देने योग्य है कि त्वगिन्द्रिय से शरीरावरक चर्म ही नहीं, अपितु शरीर के भीतरी तन्तुओं का भी ग्रहण होना चाहिए। वायु का प्रत्यक्ष नहीं होता। उसका स्पर्श, शब्द, कम्प आदि से अनुमान होता है। वायु की गति तिर्यक होती है। सम्मूर्च्छन (विशेष प्रकार का संयोग) सन्निपात (टकराव), तृण के ऊर्ध्वागमन आदि के आधार पर यह भी अनुमान किया जाता है कि वायु अनेक हैं। शरीर में रस, मल आदि का प्रेरक वायु प्राण कहलाता है और मूलत: एक है, किन्तु स्थानभेद और क्रियाभेद से वह

    1. मुखनासिका से निष्क्रमण और प्रवेश करने के कारण **प्राण**,
    2. मल आदि को नीचे ले जाने के कारण **अपान**,
    3. सब ओर ले जाने से **समान**,
    4. ऊपर ले जाने से **उदान** और
    5. नाड़ी द्वारों में विस्तृत होने से **व्यान** कहलाता है।

- सूत्रकार और प्रशस्तपाद के अनुसार वायु का ज्ञान अनुमान प्रमाण से होता है, किन्तु व्योम शिवाचार्य, रघुनाथ शिरोमणि, वेणीदत्त आदि आचार्यों का यह मत है कि वायु का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से हो जाता है।
- अन्नंभट्ट ने रूपरहित और स्पर्शवान् को वायु कहा है। अब प्राय: वायु का यही लक्षण सर्वसाधारण में अधिक प्रचलित है।

आकाश

- वैशेषिक सूत्रकार कणाद ने पृथ्वी, जल, तेज और वायु की परिभाषा मुख्यत: उनमें समवाय सम्बन्ध से विद्यमान प्रमुख गुणों के आधार पर सकारात्मक विधि से की, किन्तु आकाश की परिभाषा का अवसर आने पर कणाद ने आरम्भ में नकारात्मक विधि से यह कहा कि आकाश वह है जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श नामक गुण नहीं रहते। किन्तु बाद में उन्होंने यह बताया कि परिशेषानुमान से यह सिद्ध होता है कि आकाश वह है, जो शब्द का आश्रय है।
- प्रशस्तपाद के कथनों का आशय भी यह है कि आकाश वह है, जिसका ज्ञापक शब्द है। आकाश एक पारिभाषिक संज्ञा है। अर्थात आकाश को 'आकाश' बिना किसी निमित्त के वैसे ही कहा गया है, जैसे कि व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में किसी बालक को देवदत्त कह दिया जाता है। अत: 'आकाशत्व' जैसी कोई जाति (सामान्य) उसमें नहीं है। जिस प्रकार से पृथ्वी घट का कार्यारम्भक द्रव्य है, उस प्रकार से आकाश किसी अवान्तर द्रव्य का आरम्भक नहीं होता। जैसी पृथ्वीत्व की परजाति (व्यापक सामान्य) द्रव्यत्व है और अपरजाति (व्याप्य सामान्य) घटत्व है, वैसी परजाति होने पर भी कोई अपरजाति आकाश की नहीं है। यद्यपि गुण और कर्म की अपेक्षा से भी अपरजाति की प्रतीति का विधान है, किन्तु आकाश में शब्द आदि जो छ: गुण बताये गए हैं, वे सामान्य गुण हैं। अत: उनमें अपरजाति का घटकत्व नहीं माना जा सकता। शब्द विशेष गुण होते हुए भी अनेक द्रव्यों का गुण नहीं है। अत: वह जाति का घटक नहीं होता। इस प्रकार अनेकवृत्तिता न होने के कारण आकाश में 'आकाशत्व' नामक सामान्य की अवधारणा नहीं की जा सकती।
- किन्तु उपर्युक्त मन्तव्य का ख्यापन करने के अनन्तर भी प्रशस्तपाद यह कहते हैं कि आकाश में शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयाग और विभाग ये छ: गुण विद्यमान हैं और परिगणित गुणों में शब्द को सर्वप्रथम रखते हैं, जिससे वैशेषिक के उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी कणाद और प्रशस्तपाद के आशयों के अनुरूप शब्द को परिशेषानुमान के आधार पर आकाश का प्रमुख गुण मान लिया और इस प्रकार अन्नंभट्ट ने अन्तत: आकाश की यह

परिभाषा की 'शब्दगुणकम् आकाशम्' अर्थात जिस द्रव्य में शब्द नामक गुण रहता है वह आकाश है। आकाश एक है, नित्य है और विभु है।' आकाश की न तो उत्पत्ति होती है और न नाश। वह अखण्ड द्रव्य है। उसके अवयव नहीं होते। आकाश का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। उसका ज्ञान परिशेषानुमान से होता है। 'इह पक्षी' आदि उदाहरणों के आधार पर मीमांसकों ने आकाश को प्रत्यक्षगम्य माना है, किन्तु वैशेषिकों के अनुसार 'इह पक्षी' आदि कथन आकाश का नहीं, अपितु आलोकमण्डल का संकेत करते हैं। अत: आकाश, शब्द द्वारा अनुमेय द्रव्य है।

- वैशेषिकों के अनुसार शब्द का गुण है, गुण का आश्रय कोई न कोई द्रव्य होता है। पृथ्वी आदि अन्य आठ द्रव्य शब्द के आश्रय नहीं हैं। अत: आकाश के अतिरिक्त कोई द्रव्यान्तर आश्रय के रूप में उपलब्ध न होने के कारण आकाश को परिशेषानुमान से शब्दगुण का आश्रय माना गया है। आकाश का कोई समवायि, असमवायि और निमित्त कारण नहीं है। शब्द उसका ज्ञापक हेतु है, कारक नहीं।
- भाट्ट मीमांसक शब्द को गुण नहीं अपितु द्रव्य मानते हैं। किन्तु वैशेषिकों के अनुसार शब्द का द्रव्यत्व सिद्ध नहीं होता। सूत्रकार कणाद ने यह स्पष्ट रूप से कहा है कि द्रव्य वह होता है, जिसके केवल एक ही नहीं, अपितु अनेक समवायिकारण हों। शब्द का केवल एक समवायिकारण है, वह आकाश है। अत: शब्द एकद्रव्याश्रयी गुण है। वह द्रव्य नहीं है, अपितु द्रव्य से भिन्न है और गुण की कोटि में आता है। इस प्रकार वैशेषिक नयानुसार आकाश पृथक् रूप से एक विभु और नित्य द्रव्य है।

काल

- काल के संदर्भ में पूरी वैशेषिक परम्परा के चिन्तन का समाहार सा रखते हुए अन्नंभट्ट ने यह बताया कि अतीत आदि के व्यवहार का हेतु काल कहलाता है। वह एक है, विभु है तथा नित्य है। इस परिभाषा में जिन चार घटकों का समावेश किया गया है, उन पर वैशेषिक दर्शन के लगभग सभी आचार्यों ने गहरा विचार-विमर्श किया है।
- कणाद ने काल के द्रव्यत्व का उल्लेख करते हुए उसके अतीतादिव्यवहारहेतुत्व पर ही अधिक बल दिया। उन्होंने कहा कि अपर (कनिष्ठ) आदि में जो

अपर आदि (कनिष्ठ होने) का ज्ञान होता है वह काल की सिद्धि में लिंग अर्थात निमित्त कारण है। अधिक सूर्यक्रिया के सम्बन्ध से युक्त भ्राता को पर (ज्येष्ठ) तथा अल्प सूर्यक्रिया के सम्बन्ध से युक्त भ्राता को अपर (कनिष्ठ) कहा जाता है। अत: सूर्य और पिण्ड (शरीर) के मध्य जो परत्वापरत्व-बोधक और युगपत, चिर, क्षिप्र आदि सम्बन्धघटक द्रव्य है, वही काल है।

- प्रशस्तपाद ने आकाश एवं दिक् के समान काल को पारिभाषिक संज्ञा माना और सूत्रकार के कथन का अनुगमन करते हुए यह कहा कि पौर्वापर्य्य, यौगपद्य, अयौगपद्य, चिरत्व और क्षिप्रत्व की प्रतीतियाँ काल की अनुमिति की हेतु हैं।
- काल की सत्ता के सिद्ध होने पर भी उसके द्रव्यत्व पर उठाई जाने वाली शंकाओं का समाधान वैशेषिक इस प्रकार करते हैं कि पृथ्वी आदि अन्य आठ द्रव्यों में से किसी में भी क्षण, निमेष आदि कालबोधक प्रतीतियों को संयुक्त नहीं किया जा सकता अत: जिस द्रव्य के साथ हमारे क्षण आदि का ज्ञान संयुक्त होता है, वह काल है।
- श्रीधराचार्य ने सूर्यक्रिया या सूर्यपरिवर्तन के स्थान पर मनुष्य-शरीर के भौतिक परिवर्तन की प्रतीति को काल का अनुमापक बताकर एक नई उद्भावना की।
- इसी प्रकार वल्लभाचार्य ने न्यायलीलावती में यह कहा कि 'यह पुस्तक वर्तमान है', 'यह मेज वर्तमान है', ऐसे वाक्यों में विषय का भेद होने पर भी उनकी वर्तमानता एक जैसी है।
- अत: वर्तमानत्व ही काल का ज्ञापक है। अस्तित्व व्यक्तिगत स्वरूप या सत्ता सामान्य स्वरूप को द्योतित करता है, जबकि वर्तमानत्व वस्तुओं के कालिक सम्बन्ध का निदर्शक है।
- सूत्रकार ने यह भी कहा कि अन्य कार्यों का निमित्त कारण काल है।
- इसी प्रकार प्रशस्तपाद के कथनों का भी यह सार है कि -
  1. पर, अपर आदि प्रतीतियों का,
  2. वस्तुओं की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का, तथा
  3. क्षण, निमेष आदि प्रतीतियों का जो हेतु है, वह काल कहलाता है।

- शिवादित्य और चन्द्रकान्त ने काल को पृथक् द्रव्य नहीं माना। उनके अनुसार काल और दिक् आकाश से अभिन्न हैं।
- रघुनाथ शिरोमणि ने भी काल को द्रव्य न मानते हुए यह कहा कि ईश्वर से अतिरिक्त काल को पृथक् द्रव्य मानने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ईश्वर ही कालव्यवहार का विषय है।
- किन्तु दिनकर भट्ट एवं वैणीदत्त ने रघुन के मत का खण्डन करते हुए यह प्रतिपादित किया कि काल को पृथक् द्रव्य माने बिना हमारी कालिक अनुभूतियों का समाधान नहीं होता।
- जयन्तभट्ट, नागेशभट्ट, योगभाष्यकार व्यास आदि के अनुसार काल की संकल्पना कल्पनाप्रसूत है, काल क्षणप्रवाह मात्र है। अतः वह स्वतंत्र द्रव्य नहीं है, किन्तु वैशेषिक इनके मत को स्वीकार नहीं करते और काल को एक पृथक् द्रव्य ही मानते हैं।
- संक्षेप में वैशेषिक मत का सार यह है कि क्षण, निमेष आदि काल की व्यावहारिक उपाधियाँ हैं। इनका नाश होने से भी काल का नाश नहीं होता, अतः काल एक नित्य द्रव्य है, उपाधिभेद से उसमें अनेकता होने पर भी काल वस्तुतः एक है और पर, अपर आदि कालिक प्रतीतियों का कोई अन्य आधार द्रव्य न होने के कारण काल पृथक् रूप से एक विभु एवं नित्य द्रव्य है।

दिक्

- वैशेषिक मत का सारसंग्रह करते हुए अन्नंभट्ट ने यह कहा कि 'प्राची आदि के व्यवहार-हेतु को दिक् (दिशा) कहते हैं। दिक् एक है, विभु है और नित्य है।' इस परिभाषा में उल्लिखित प्रमुख घटकों का वैशेषिकों की लम्बी परम्परा में बड़ा गहन विश्लेषण किया गया है।
- कणाद ने यह बताया कि-'जिससे : यह पर है; यह अपर है'- ऐसा ज्ञान होता है, वह दिक् सिद्धि में लिंग है।' कणाद ने यह भी कहा कि दिक् का द्रव्यत्व और नित्यत्व वायु के समान है। दिशा के तात्त्विक भेदों का कोई हेतु नहीं पाया जाता अतः वह एक है। किन्तु संयोगात्मक उपाधियों के कारण उसमें प्राची, प्रतीची आदि भेद से नानात्व का व्यवहार होता है।'

- प्रशस्तपाद ने अपरजाति (व्याप्यसामान्य) के अभाव के कारण दिशा को भी आकाश और काल के समान एक पारिभाषिक संज्ञा माना और सूत्रकार के मन्तव्य का अनुवाद सा करते हुए यह बताया कि –'यह इससे पूर्व में है– यह इससे पश्चिम में है– ऐसी प्रतीतियाँ जिसकी बोधक हों, वह दिशा है।' किसी परिच्छिन्न परिमाण वाले मूर्त द्रव्य को अवधि (केन्द्रबिन्दु) मान करके पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर आदि प्रतीतियाँ की जाती हैं। किन्तु दिशा के बोधक लिंग में भेद न होने के कारण दिशा वस्तुतः एक है। प्राची आदि भेद दिशा की व्यावहारिक उपाधियाँ है। काल के समान दिशा में भी एकत्व संख्या, परम महत् परिमाण, एक पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये पाँच गुण होते हैं।
- चित्सुख, चन्द्रकान्त, शिवादित्य आदि विद्वानों ने दिशा के पृथक् द्रव्यत्व का प्रायः इस आधार पर खण्डन किया है कि आकाश, काल एवं दिशा पृथक्-पृथक् द्रव्य नहीं, अपितु एक ही द्रव्य के तीन पक्ष प्रतीत होते है। रघुनाथ शिरोमणि और भासर्वज्ञ के अनुसार दिशा ईश्वर से अभिन्न है और दिशासम्बन्धी सभी प्रतीतियाँ ईश्वर की उपाधियाँ हैं।
- वैयाकरण और बौद्ध काल और दिशा को क्षणिक प्रवाहमान विज्ञान कहते हैं सांख्य द्वारा ये दोनों आकाश में अन्तर्भूत बताये गये हैं।
- वेदान्त के अनुसार काल और दिशा परब्रह्म पर आरोपित प्रातिभासिक प्रतीतियाँ हैं। केवल वैशेषिक में ही उनका पृथक् द्रव्यत्व माना गया है।
- इस संदर्भ में यह भी ज्ञातव्य है कि यदि सूत्रकार कणाद को आकाश, काल और दिशा का पृथक्-पृथक् द्रव्यत्व अभिप्रेत न होता, तो यह इनके विश्लेषण के लिए पृथक्-पृथक् सूत्रों का निर्माण क्यों करते? इन तीनों द्रव्यों का स्वरूप, कार्यक्षेत्र और प्रयोजन भिन्न है। उदाहरणतया आकाश एक भूतद्रव्य है, दिक् मूर्त द्रव्य नहीं है। काल, कालिक परत्वापरत्व का हेतु होता है, जबकि दिशा, दैशिक परत्वापरत्व की हेतु है। कालिक प्रतीतियाँ स्थिर होती हैं, जबकि देश की प्रतीतियाँ केन्द्र सापेक्ष होने से अस्थिर होती हैं। अतः वेणीदत्त जैसे उत्तरवर्ती वैशेषिकों का भी यही कथन है कि दिशा पृथक् रूप से एक विभु और नित्य द्रव्य है।

आत्मा

- सूत्रकार कणाद ने आत्मा के द्रव्यत्व का विश्लेषण करते हुए सर्वप्रथम यह कहा कि प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष, जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तर विकार, सुख-दु:ख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न नामक लिंगों से आत्मा का अनुमान होता है। ज्ञान आदि गुणों का आश्रय होने के कारण आत्मा एक द्रव्य है और किसी अवान्तर (अपर सामान्य) द्रव्य का आरम्भक न होने के कारण नित्य है। आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता। रूप आदि के समान ज्ञान भी एक गुण है। उसका भी आश्रय कोई द्रव्य होना चाहिए। पृथ्वी आदि अन्य आठ द्रव्य ज्ञान के आश्रय नहीं है। अत: परिशेषानुमान से जो द्रव्य ज्ञान का आश्रय है, उसको आत्मा कहा जाता है।
- कणाद ने यह भी कहा कि- ज्ञानादि के आश्रयभूत द्रव्य की आत्मसंज्ञा वेद विहित है। इस वेद विहित आत्मा का अन्य आठ द्रव्यों में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। 'अहम्' शब्द का आत्मवाचित्व सुप्रसिद्ध है। 'मैं देवदत्त हूँ' ऐसे वाक्यों में शरीर में अहम की प्रतीति उपचारवश होती है। प्रत्येक आत्मा में सुख, दु:ख की प्रतीति भिन्न-भिन्न रूप से होती है। अत: जीवात्मा एक नहीं अपितु अनेक हैं, नाना हैं।
- प्रशस्तपाद ने भी सूत्रकार का अनुवर्तन करते हुए प्रकारान्तर से यह कहा कि सूक्ष्म होने के कारण आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु 'जैसे बसूला आदि करणों (हथियारों) को कोई बढ़ई चलाता है, वैसे ही श्रोत्र आदि करणों (इन्द्रियों) को चलाने वाला भी कोई होगा'- इस प्रकार से करण प्रयोजक के रूप में आत्मा का अनुमान किया जाता हैं प्रशस्तपाद ने कई अन्य उदाहरणों के द्वारा भी यह बताया कि प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि का प्रेरक भी कोई चेतन ही हो सकता है। वही आत्मा है। सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न नामक गुणों से भी गुणी आत्मा का अनुमान होता है। पृथ्वी, शरीर, इन्द्रिय आदि के साथ अहं प्रत्यय का योग नहीं होता। वह केवल आत्मा के साथ होता है। प्रशस्तपाद ने आत्मा में बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व संयोग और विभाग इन चौदह गुणों का उल्लेख करते हुए यह भी कहा कि इनमें बुद्धि से लेकर संस्कार पर्यन्त प्रथम आठ आत्मा के विशेष गुण हैं और संख्याआदि शेष छ:

सामान्य गुण। विशेष गुण अन्य द्रव्यों में नहीं पाये जाते, जबकि सामान्य अन्य द्रव्यों में भी पाये जाते हैं।

- कणाद और प्रशस्तपाद के कथनों का शंकर मिश्र प्रभृति कतिपय उत्तरवर्ती व्याख्याकारों ने कुछ भिन्न आशय ग्रहण किया और यह कहा कि आत्मा का मानस प्रत्यक्ष होता है। मैं हूँ- यह ज्ञान, मानसप्रत्यक्ष है, न कि अनुमानजन्य। कणाद के एक अन्य कथन को स्पष्ट करते हुए शंकर मिश्र ने यह भी बताया कि जिस प्रकार वायु के परमाणुओं में अवयवों के विषय में कोई प्रमाण न होने से वे नित्य माने जाते हैं, वैसे ही आत्मा के अवयव मानने में कोई प्रमाण न होने के कारण आत्मा नित्य है तथा अनादि का आश्रय होने के कारण आत्मा एक द्रव्य है।
- वेदान्त आदि में ज्ञान को आत्मा का स्वरूप माना जाता है, किन्तु वैशेषिक दर्शन के अनुसार ज्ञान आत्मा का आगन्तुक गुण है।
- न्यायमंजरी में जयन्त ने भी यह कहा कि स्वरूपत: आत्मा जड़ या अचेतन है। इन्द्रिय और विषय का मन के साथ संयोग होने से आत्मा में चैतन्य उत्पन्न होता है। आत्मा विभु है। वह न तो अणुपरिमाण है, न मध्यमपरिमाण।
- अन्नंभट्ट ने वैशेषिक मत का सारसंग्रह करते हुए यह बताया कि ज्ञान का जो अधिकरण है, वह आत्मा है। वह दो प्रकार का है, जीवात्मा और परमात्मा। परमात्मा एक है और जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न होने के कारण अनेक है। इस संदर्भ में उद्योतकर का यह कथन भी स्मरणीय है कि परमात्मा नित्य ज्ञान का अधिकरण है जबकि जीवात्मा अनित्य ज्ञान का।
- श्रीधर ने भी यह बताया है कि जीवात्मा शरीरधारी होता है जबकि परमात्मा कभी भी शरीर धारण नहीं करता।

मन

- न्याय-वैशेषिक का यह सिद्धान्त है कि गन्धादि विषयों का घ्राणादि इन्द्रियों से, इन्द्रियों का मन से, औ मन का आत्मा से संयोग होने पर ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। विषय का इन्द्रिय के साथ और इन्द्रिय का आत्मा से अधिष्ठानमूलक सम्पर्क होने पर भी यदि इन्द्रिय और आत्मा के बीच मन संयुक्त या सन्निहित नहीं है तो ज्ञान नहीं होता, और संपृक्त या सन्निहित है तो ज्ञान होता है। गन्धादि एकाधिक विषयों के साथ घ्राणादि एकाधिक इन्द्रियों का युगपद

संयोग हो जाने पर भी उनमें से केवल एक ही विषय का ज्ञान होता है, क्योंकि मन उनमें से केवल एक ही इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध हो सकता है, एक ही समय एकाधिक के साथ नहीं। मन की अव्यापृतता या अन्यत्र व्यापृतता के कारण कभी-कभी इन्द्रियों से संयुक्त होने पर भी विषय का बोध नहीं होता। अतः कणाद यह कहते हैं कि विषयों और इन्द्रियों के युगपद संयोग की स्थिति में किसी एक विषय में ज्ञान के सद्भाव और अन्य विषय में ज्ञान के अभाव को हेतु मानकर जिस द्रव्य का अनुमान किया जाता है, वह मन कहलाता है। कणाद यह भी कहते हैं कि जैसे वायु स्पर्शादि गुणों का आश्रय होने के कारण द्रव्य और अवान्तर सृष्टि का समारम्भक न होने के कारण नित्य है, वैसे ही संयोगादि गुणों का आश्रय होने के कारण मन द्रव्य है और अपर सामान्य अर्थात किसी सजातीय अवान्तर द्रव्य का समारम्भक द्रव्य न होने के कारण वह नित्य है। शरीर के प्रत्येक अवयव या अंग में ही अनेक युगपत् प्रयत्न न होने तथा आत्मा में एक काल में ही अनेक युगपद् ज्ञान उत्पन्न न होने के कारण यह सिद्ध होता है कि मन प्रति शरीर एक है अर्थात भिन्न-भिन्न शरीरों में भिन्न-भिन्न है।

- प्रशस्तपाद आदि भाष्यकारों ने कणाद के कथनों को प्रकारान्तर से प्रस्तुत करते हुए यह बताया कि आत्मा, इन्द्रिय तथा विषय के सान्निध्य के होते हुए भी ज्ञान, सुख आदि कार्य कभी होते हैं, कभी नहीं होते हैं। अतः आत्मा, इन्द्रिय और विषय इन तीनों के अतिरिक्त किसी अन्य हेतु की अपेक्षा है, वही हेतु मन है। प्रशस्तपाद ने मन को संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और संस्कार नामक आठ गुणों का अचेतन, परार्थक, मूर्त, अणुपरिमाण तथा आशु संचारी माना है।
- प्रशस्तपाद के अनुसार स्मृति भी किसी इन्द्रिय पर आधारित होती है। श्रोत्रेन्द्रिय स्मृति का हेतुभूत जो इन्द्रिय है, वही मन है। सुखादि की प्रतीति का कारण भी मन ही है। इस प्रकार प्रशस्तपाद के अनुसार युगपदि ज्ञानानुत्पत्ति, स्मृति और सुखादि की प्रतीति इन तीन हेतुओं से मन का अनुमान होता है।
- व्युत्पत्ति के अनुसार मन का अर्थ है- मनन का साधन -'मन्यते बुध्यतेऽनेनेति' (मन्-सर्वधातुभ्योऽसुन्)। किन्तु मन आन्तरिक अनुभवों में ही नहीं, अपितु बाह्य वस्तुओं के प्रत्यक्ष में भी सहायक होता है। अतः प्रशस्तपाद ने यह बताया कि मन वह द्रव्य है, जो मनस्त्वजाति से युक्त हो।

- न्यायभाष्यकार वात्स्यायन के अनुसार भी सभी प्रकार के ज्ञान का हेतु जो इन्द्रिय है, वह मन है। मन ज्ञान का आश्रय नहीं, अपितु ज्ञान का कारण है।
- उदयनाचार्य के मत में मन एक मूर्त द्रव्य है और स्पर्शरहित है।
- शिवादित्य का यह विचार है कि मन मनस्त्वजाति से युक्त, स्पर्शरहित, क्रिया का अधिकरण द्रव्य है।
- वल्लभाचार्य विश्वनाथ आदि आचार्यों ने बताया कि सुख-दु:खादि का अनुभव कराने वाली अन्तरिन्द्रिय ही मन है। बाह्य इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों का तभी ग्रहण कर सकती हैं, जब मन भी उनके साथ हो। अत: मन सुख आदि का ग्राहक इन्द्रिय होने के साथ-साथ अन्य इन्द्रियों द्वारा उनके अर्थग्रहण में भी सहायक होता है। ज्ञान के अयोगपथ से यह सिद्ध होता है कि प्रति शरीर भिन्न-भिन्न है, अत: उसमें अनेकत्व है।
- श्रीधर का यह कथन है कि दो विभु द्रव्यों के बीच संयोग संभव नहीं है। आत्मा विभु है अत: मन को भी विभु नहीं माना जा सकता, वह अणु है। बाह्य इन्द्रियाँ मन को नहीं देख सकतीं, अत: मन एक अतीन्द्रिय द्रव्य है।

षष्ठ अध्याय

गुण : स्वरूप एवं भेद

- कणाद के अनुसार समवाय सम्बन्ध से द्रव्य में आश्रय लेने का जिसका स्वभाव हो, जो स्वयं गुण का आश्रय न हो, संयोग और विभाग का कारण न हो और अन्य किसी की अपेक्षा न रखता हो, वह गुण नामक पदार्थ है।
- प्रशस्तपाद ने यह बताया कि गुणत्व का समवायी होना, द्रव्य में आश्रित होना, गुणरहित होना, क्रियारहित होना सभी गुणों का साधर्म्य है।
- केशवमिश्र के मत में जो सामान्य जाति से असमवायिकारण बनने वाला हो, स्पन्दन रहित क्रियावान न हो और द्रव्य पर आश्रित हो, वह गुण कहलाता है।
- विश्वनाथ ने द्रव्याश्रित निर्गुण और निष्क्रिय हो गुण कहा है।
- कणाद ने निम्नलिखित सत्रह गुणों का उल्लेख किया है–

1. रूप	2. रस	3. गन्ध
4. स्पर्श	5. संख्या	6. परिमाण
7. पृथक्त्व	8. संयोग	9. विभाग
10. परत्व	11. अपरत्व	12. बुद्धि
13. सुख	14. दुःख	15. इच्छा
16. द्वेष और	17. प्रयत्न।	

- प्रशस्तपाद ने वैशेषिकसूत्र (1-1-6) में उल्लिखित 'च' पद को आधार बनाकर निम्नलिखित सात गुणों को जोड़कर गुणों की संख्या 24 तक पहुँचा दी–

1. गुरुत्व
2. द्रवत्व

3. स्नेह
4. संस्कार
5. धर्म
6. अधर्म और
7. शब्द।

- शंकर मिश्र के मतानुसार कणाद ने इन सात गुणों का परिगणन नहीं किया क्योंकि ये तो प्रसिद्ध हैं ही।

  कुछ विद्वानों ने

  1. लघुत्व,
  2. मृदुत्व,
  3. कठिनत्व और
  4. आलस्य को जोड़कर गुणों की संख्या 28 करने का प्रयत्न किया है।

  कई आचार्यों ने

  1. परत्व

2. अपरत्व और पृथक्त्व को अनावश्यक मानकर गुणों की संख्या 21 बताई है। किन्तु सामान्यतया यही माना जाता है कि वैशेषिक दर्शन में गुणों की संख्या 24 है। नव्यन्याय में परत्व, अपरत्व को विप्रकृष्टत्व और सन्निकृष्टत्व या ज्येष्ठत्व और कनिष्ठत्व में अन्तर्निहित मान लिया गया है और पृथक्त्व को अन्योन्याभाव का ही एक रूप बताया गया है। अतः नव्यनैयायिक 21 गुण मानते हैं। विश्वनाथ ने उपर्युक्त चौबीस गुणों का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप से किया है-

आश्रयद्रव्यों की मूर्तामूर्तपरक

- केवल मूर्त द्रव्यों में रहने वाले जैसे रूप, रस आदि।
- केवल अमूर्त द्रव्यों में रहने वाले, जैसे- बुद्धि, सुख आदि।
- मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के द्रव्यों में रहने वाले, जैसे- संख्या, परिमाण आदि।

आश्रय-संख्यापरक

इन गुणों में से कुछ एक-एक द्रव्य में रहते हैं और कुछ एकाधिक द्रव्यों में। संयोग, विभाग, संख्या, अनेकाश्रित गुण हैं और अन्य एकाश्रित।

सामान्य-विशेषपरक

विश्वनाथ ने गुणों का वर्गीकरण

1. सामान्य और
2. विशेष रूप में भी किया है।
   - उनके मतानुसार सामान्य गुण हैं- संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, असांसिद्धिक द्रवत्व, गुरुत्व तथा वेग-संस्कार।
   - विशेष गुण हैं- बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिक द्रवत्व, धर्म, अधर्म, भावना, संस्कार तथा शब्द।

इन्द्रियग्राह्यतापरक

विश्वनाथ ने यह भी बताया है कि इन्द्रियग्राह्यता के आधार पर भी गुणों का निम्नलिखित रूप से वर्गीकरण किया जा सकता है-

1. एकेन्द्रियग्राह्य- रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द।
2. द्वीन्द्रियग्राह्य- (चक्षु और त्वक् से) संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, स्नेह, वेग-संस्कार।
3. अतीन्द्रिय- गुरुत्व, बुद्धि, सुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा भावना-संस्कार।

गुणों का संक्षिप्त विवरण अन्नंभट्ट द्वारा उल्लिखित क्रमानुसार निम्नलिखित है-

रूप का स्वरूप

केवल चक्षु द्वारा ग्रहण किये जाने वाले विशेष गुण को रूप कहते हैं। यहाँ पर ग्रहण का आशय है लौकिक प्रत्यक्ष-योग्य जाति का आश्रय। दृष्ट वस्तु में परिमाणवत्ता, व्यक्तता तथा अन्य गुणों से अनभिभूतता होनी चाहिए तभी उसका रूप चक्षुग्रह्यि होगा। 'चक्षुमात्रि' शब्द के प्रयोग का यह आशय है कि चक्षु से

भिन्न बहिरिन्द्रिय द्वारा रूप का ग्रहण नहीं होता। अन्तरिन्द्रिय मन पर यह बात लागू नहीं होती। रूप पृथ्वी, जल और तेज इन तीनों द्रव्यों में रहता है और शुक्ल, नील, रक्त, पीत, हरित, कपिश और चित्र भेद से सात प्रकार का होता है।

रस का स्वरूप

जीभ से प्रत्यक्ष होने वाले गुण का नाम रस है। रस छः प्रकार का होता है- मथुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त तथा कषाय। रस पृथ्वी और जल में रहता है। पृथ्वी में छः प्रकार का जल रहता है, किन्तु जल में केवल मधुर रस रहता है और वह अपाकज होता है। चित्ररस की सत्ता को नैयायिकों ने स्वीकार नहीं किया, क्योंकि आँख किसी वस्तु के विस्तृत भाग के रूपों को एक साथ देख सकती है, किन्तु जिह्वाग्र एक समय एक ही रस का ग्रहण कर सकता है।

गन्ध का स्वरूप

घ्राण इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किये जाने योग्य गुण को गन्ध कहते हैं। सुगन्ध और दुर्गन्ध के भेद से यह दो प्रकार का होता है और केवल पृथ्वी में रहता है और अनित्य है। सुगन्ध और दुर्गन्ध गम्य हैं। नैयायिकों ने चित्रगन्ध की सत्ता को भी स्वीकार नहीं किया। जल में गन्ध का जो आभास होता है, वह पृथ्वी के संयोग के कारण संयुक्त समवाय सम्बन्ध से होता है।

स्पर्श का स्वरूप

जिस गुण का केवल त्वचा से प्रत्यक्ष होता है, वह स्पर्श कहलाता है। स्पर्श तीन प्रकार का होता है और चार द्रव्यों में रहता हैं- शीत (जल में), उष्ण (तेज में) तथा अनुष्णाशीत (पृथ्वी और वायु में)। यह पृथ्वी, जल, तेज और वायु में रहता है। नव्य नैयायिक कठिन और सुकुमार को भी स्पर्श का भेद मानते है, जबकि प्राचीन नैयायिक उनको संयोग के अन्तर्गत समाविष्ट करते हैं।

संख्या का स्वरूप

- एक, दो आदि व्यवहार के कारण को संख्या कहा जाता है। दूसरे शब्दों में संख्या वह सामान्य गुण है, जो एकत्व आदि व्यवहार का निमित्त होता है। वह नौ द्रव्यों में रहती है और एक से लेकर परार्ध पर्यन्त होती है। संख्या दो प्रकार की होती है- एक द्रव्य में रहने वाली एकत्व और अनेक द्रव्यों में रहने वाली- द्वित्व त्रित्व आदि। एकत्व भी दो प्रकार का होता है-

1. नित्य, जो पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणु तथा आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन इन नित्य पदार्थों में रहता है और
2. अनित्य, जो अपने आश्रय घट-पट आदि के समवायि कारण तन्तु आदि अनित्य पदार्थों में रहता है। इन पदार्थों के नाश से तद्गत एकत्व भी नष्ट हो जाता है पट का रूप अपने समवायिकारणों के रूप से उत्पन्न होता है। द्वित्वादि नामक संख्या तो सभी द्रव्यों में अनित्य होती है।

- द्वित्व संख्या की उत्पत्ति दो द्रव्यों में जैसे 'यह एक घट है' यह भी एक घट है' इस अपेक्षाबुद्धि से होती है। द्वित्व दो द्रव्यों का गुण है, अतः दो द्रव्य द्वित्व के समवायिकरण होते हैं और दोनों द्रव्यों के दोनों एकत्व असमवायिकारण होते हैं, एकत्व की अपेक्षाबुद्धि निमित्त कारण होती है। अपेक्षाबुद्धि के नाश से द्वित्व का भी नाश हो जाता है।
- साधारणतया तो संख्या एक प्रतीतिमात्र है, किन्तु न्यायवैशेषिक की दृष्टि से रूप आदि के समान संख्या भी एक गुण है। संक्षेपतः द्वित्व आदि की उत्पत्ति (द्वित्वोदय प्रक्रिया) वैशेषिकों के अनुसार इस प्रकार है-
- प्रथम क्षण में - इन्द्रिय का घटद्वय से सम्बन्ध।
- द्वितीय क्षण में- एकत्वसामान्य का ज्ञान।
- तृतीय क्षण में - एक यह, एक यह, इस प्रकार की अपेक्षाबुद्धि का उत्पन्न होना।
- चतुर्थ क्षण में - द्वित्व संख्या की उत्पत्ति
- पंचम क्षण में - द्वित्व सामान्य (जाति का ज्ञान)।
- षष्ठ क्षण में- द्वित्व संख्या का ज्ञान।
- सप्तम क्षण में - द्वित्वसंख्याविशिष्ट दो घट व्यक्ति का ज्ञान।
- अष्टम क्षण में - द्वित्व ज्ञान से आत्संस्कार।

परिमाण का स्वरूप

मान के व्यवहार अर्थात् दो सेर आदि नापने और तौलने के असाधारण कारण को परिमाण कहा जाता है। परिमाण नौ द्रव्यों में रहता है और अणु, महत, दीर्घ व ह्रस्व भेद से चार प्रकार का होता है। परिमाण का नित्य और अनित्य के रूप में भी वर्गीकरण किया जाता है। नित्य द्रव्यों में रहने वाला परिमाण नित्य

और अनित्य द्रव्यों में रहने वाला परिमाण अनित्य होता है। कार्यगत परिमाण के तीन उपभेद हैं-

1. संख्यायोनि,
2. परिमाणयोनि तथा
3. प्रचययोनि।

पृथक्त्व का स्वरूप

पृथक्ता के व्यवहार के असाधारण कारण को पृथक्त्व कहा जाता है। यह दो प्रकार का होता है- जहाँ एक वस्तु में अन्य वस्तु से पृथक् प्रतीत होती हैं, वहाँ एक पृथक्त्व और जहां दो वस्तुओं में अन्य वस्तु या वस्तुओं से पृथक्ता प्रतीत होती है (जैसे घट और पट पुस्तक से पृथक् है) वहाँ द्विपृथक्त्व आदि। एक पृथक्त्व नित्य द्रव्य में रहता हुआ नित्य होता है और अनित्य द्रव्य में रहता हुआ अनित्य। द्विपृथक्त्य आदि सर्वत्र अनित्य ही होता है, क्योंकि उसका आधार द्वित्व आदि संख्या है, जिसको अनित्य माना जाता है। यह घट उस घट से पृथक् है- इस प्रकार का व्यवहार द्रव्यों के संबन्ध में प्राय: देखा जाता है। इस प्रकार की प्रतीति का निमित्त एक गुण माना जाता है। यही पृथक्त्व है। अन्योन्याभाव के आधार पर यह प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि अन्योन्याभाव तो 'घट पट नहीं है' आदि ऐसे उदाहरणों पर चरितार्थ होता है, जिनमें तादात्म्य का अभाव है। इस प्रकार पृथक्त्व की प्रतीति भावात्मक है जबकि अन्योन्याभाव की प्रतीति अभावात्मक होती है।

संयोग का स्वरूप

जब दो द्रव्य इस प्रकार समीपस्थ होते हैं कि उनके बीच कोई व्यवधान न हो तो उनके मेल को संयोग कहते हैं। इस प्रकार संयोग एक सामान्य गुण है, जो दो द्रव्यों पर आश्रित रहता है। संयोग अव्याप्यवृत्ति होता है। उदाहरणतया पुस्तक और मेज का संयोग दो द्रव्यों से सम्बद्ध होता हे, किन्तु यह संयोग दोनों द्रव्यों को पूर्ण रूप से नहीं घेरता, केवल उनके एक देश में रहता है। मेज के साथ पुस्तक के एक पार्श्व का और पुस्तक के साथ मेज के एक भाग का ही संयोग होता है। संयोग को केवल व्यवधानाभाव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि व्यवधानाभाव तो कछ दूर पर स्थित द्रव्यों में भी हो सकता है। किन्तु संयोग में तो व्यवधानाभाव

तो कुछ दूर पर स्थित द्रव्यों में भी हो सकता है। किन्तु संयोग में तो व्यवधानाभाव के साथ ही मेल होना भी आवश्यक है।

संयोग तीन प्रकार का होता है-

1. अन्यतरकर्मज
2. उभयकर्मज और
3. संयोगज-संयोगकर्मज।

संयोगनाश के दो कारण होते हैं-

1. आश्रय का नाश और
2. विभाग।

संयोग का यह वर्गीकरण वैशेषिक दृष्टि से है। नैयायिकों के अनुसार तो संयोग के दो भेद होते हैं- जन्य और अजन्य। जन्य संयोग के तीन उपभेद होते हैं-

1. अन्यतर कर्मज,
2. उभयकर्मज और
3. संयोगज।

अजन्य संयोग विभु द्रव्यों में होता है और उसका कोई अवान्तर भेद नहीं होता। वैशेषिक दर्शन आकाश, काल आदि विभु द्रव्यों के नित्य संयोग के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता। विभु द्रव्यों में विप्रकर्ष भी नहीं है और विभुत्व के कारण उनमें संयोग मानना भी व्यर्थ है। आशय यह है कि वैशेषिक मत में नित्य एवं विभु द्रव्यों का परस्पर संयोग नहीं होता। फलस्वरूप आकाश का आत्मा के साथ अथवा दो आत्मा का परस्पर संयोग नहीं होता।

विभाग का स्वरूप

परस्पर मिले हुए पदार्थों के अलग-अलग हो जाने से संयोग का जो नाश होता है, उसको विभाग कहते हैं। वह सभी द्रव्यों में रहता है। केशव मिश्र के अनुसार 'यह द्रव्य से विभक्त है' -इस प्रकार के अलगाव की प्रतीति का असाधारण कारण विभाग कहलाता हे। वह संयोगपूर्वक होता है और दो द्रव्यों में होता है। विभाग तीन प्रकार का माना गया है- अन्यतरकर्मज, उभयकर्मज और विभागज।

परत्व और अपरत्व का स्वरूप

'यह पर है, यह अपर है'- इस प्रकार के व्यवहार का असाधारण कारण परत्व एवं अपरत्व है। वे दो प्रकार के हैं- दिक्कृत और (ख) कालकृत।

1. दिक्कृत परत्व और अपरत्व- एक ही दशा में स्थित दो द्रव्यों में 'यह द्रव्य इस द्रव्य के समीप है'- इस प्रकार के ज्ञान के सहयोग से दिशा और वस्तु के संयोग द्वारा समीपस्थ वस्तु में अपरत्व उत्पन्न होता है। अपरत्व की उत्पत्ति का साधन सन्निकर्ष है। इसी प्रकार 'यह द्रव्य इस द्रव्य से दूर है'- ऐसी बुद्धि के सहयोग से दिग्द्रव्य के संयोग से विप्रकृष्ट द्रव्य में परत्व उत्पन्न होता है। परत्व की उत्पत्ति का साधन विप्रकर्ष है।
2. कालकृत परत्व और अपरत्व- वर्तमान काल को आधार मानकर दो वस्तुओं या व्यक्तियों में एक अनियत दिशा में स्थित युवक तथा वृद्धि शरीरों में 'यह (युवक शरीर) इस (वृद्धि शरीर) की अपेक्षा अल्पतर काल से सम्बद्ध' है- इस प्रकार वृद्धिरूप निमित्तकारण के सहयोग से कालशरीर-रूप असमवायिकारण से युवा मनुष्य के शरीररूप आश्रय में अपरत्व उत्पन्न होता है तथा यह (वृद्ध शरीर) इस (युवक शरीर) की अपेक्षा अधिक काल से सम्बन्ध रखता है' इस प्रतीति से वृद्ध शरीर में परत्व उत्पन्न होता है। यह ज्ञातव्य है कि दिक्कृत परत्वापरत्व एक दिशा में स्थित दो द्रव्यों में ही उत्पन्न हुआ करते हैं, भिन्न-भिन्न दिशाओं में स्थित द्रव्यों में नहीं, किन्तु कालकृत परत्वापरत्व के लिए पिण्डों का एक ही दिशा में स्थित होना आवश्यक नहीं है।

गुरुत्व का स्वरूप

गुरुत्व उस धर्मविशेष (गुण) को कहते हैं, जिसके कारण किसी द्रव्य का प्रथम पतन होता है। किसी वस्तु की ऊपर से नीचे की ओर जाने की क्रिया का नाम पतन है। पतन-क्रिया जिस वस्तु में होती है, वह वस्तु पतन का समवायिकारण होती है और स्वयं उस वस्तु का जो अपना भारीपन है वह उस वस्तु में संयोग, वेग या प्रयत्न का अभाव हो जाता है। अतः पतन का समवायिकारण कोई न कोई द्रव्य होता है, असमवायिकारण गुरुत्व होता है। परमाणु का गुरुत्व नित्य होता है। परमाणु से भिन्न पृथ्वी और जल का गुरुत्व अनित्य होता है। पहली पतन-क्रिया से वस्तु में जो वेग उत्पन्न होता है, वह बाद की पतन-क्रिया का असमवायिकारण

है। वृन्त से टूट कर भूमि पर पहुँचने तक फल में अनेक क्रियाएँ होती हैं। उनमें पहली पतन-क्रिया का असमवायिकारण फल का गुरुत्व होता है और बाद की पतनक्रियाओं का असमवायिकारण पहली पतन-क्रिया से उत्पन्न फलगत वेग होता है।

द्रवत्व का स्वरूप

किसी तरल वस्तु के चूने, टपकने या एक स्थान से दूसरे स्थान तक बहकर पहुँचने में अनेक स्पन्दनक्रियाएँ होती है। उनमें से प्रथम स्पन्दन का असमवायिकारण द्रवत्व (तरलता) कहलाता है, जो कि भूमि, तेज और जल में रहता है। घृत आदि पार्थिव द्रवत्व तथा सुवर्ण आदि में जो द्रवत्व है, वह नैमित्तिक (अग्निसंयोगजन्य) होता है, जब कि जल में जो द्रवत्व है वह स्वाभाविक है। पहली क्रिया के बाद की जो स्पन्दन क्रियाएँ होती हैं, उनका असमवायिकारण वेग होता है।

स्नेह का स्वरूप

'चिकनापन' नामक जो गुण है, वह स्नेह कहलाता है। वह केवल जल में रहता है। स्नेह ऐसा गुण है, जिसके कारण पृथक्-पृथक् रूप से विद्यमान कण या अंश पिण्ड रूप में परिणत हो जाते हैं। स्नेह दो प्रकार का होता है- नित्य और अनित्य। जल के परमाणुओं में नित्य होता है और कार्यरूप जल में अनित्य। अनित्य स्नेह कारण गुणपूर्वक होता है और तभी तक रहता है, जब तक उसका आश्रय द्रव्य द्व्यणुक आदि रहता है।

शब्द (गुण) का स्वरूप

शब्द वह गुण है जिसका ग्रहण श्रोत्र के द्वारा किया जाता है। शब्द का आश्रय द्रव्य आकाश है। अतः यह आकाश का विशेष गुण भी कहा जाता है। शब्द दो प्रकार का होता है- ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक। भेरी आदि से उत्पन्न शब्द ध्वन्यात्मक और कण्ठ से उत्पन्न शब्द वर्णात्मक कहलाता है। भेरी आदि में उत्पन्न शब्द श्रोत्र तक कैसे पहुँचता है, इस सम्बन्ध में नैयायिकों ने मुख्यतः जिन दो न्यायों का उल्लेख किया है, वे हैं-

1. वीचितरंगन्याय और
2. कदम्बमुकुलन्याय।

न्यायकन्दली में श्रीधर ने वीचितरंगन्याय को प्राथमिकता से निरूपित किया है।

बुद्धि का स्वरूप

गुणों में बुद्धि का भी परिगणन किया गया है। बुद्धि आत्मा का गुण है, क्योंकि आत्मा को ही मन तथा बाह्येन्द्रियों के द्वारा अर्थ का प्रकाश अर्थात ज्ञान होता है। सांख्य में बुद्धि को महत् तत्त्व कहा गया है किन्तु वैशेषिक यह मानते हैं कि बुद्धि ज्ञान का पर्याय है।

- प्रशस्तपाद ने इस संदर्भ में ठीक वैसा ही विचार व्यक्त किया है, जैसा कि न्यायसूत्रकार गौतम ने किया था कि बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान पर्यायवाची शब्द हैं।
- शिवादित्य ने भी आत्माश्रय प्रकाश को बुद्धि कहा है। बुद्धि का मानस प्रत्यक्ष होता है। बुद्धि के प्रमुख दो भेद हैं- विद्या और अविद्या।
- विश्वनाथ पंचानन ने विद्या को प्रमा और अविद्या को अप्रमा कहा है।
- अन्नंभट्ट ने सब प्रकार के व्यवहार हेतु को बुद्धि कहा है। उन्होंने बुद्धि के भेद बताये- स्मृति और अनुभव। अनुभव भी दो प्रकार का होता है- यथार्थ और अयथार्थ। यथार्थ अनुभव को ही प्रमा कहते हैं।

सुख का स्वरूप

- जिसको सभी प्राणी चाहें या जो सब लोगों को अनुकूल लगे, वह सुख कहलाता है। सुख न्याय-वैशेषिक के अनुसार आत्मा का एक विशेष गुण है। कतिपय आचार्यों के मत में 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार के अनुव्यवसाय में जिस ज्ञान की प्रतीति होती है, वह सुख कहलाता है। आत्मा के उस गुण को भी कतिपय आचार्यों ने सुख कहा है, जिसका असाधारण कारण धर्म है।
- प्रशस्तपादभाष्य में कारण भेद से चार प्रकार के सुखों का उल्लेख किया गया है-
    1. सामान्यसुख, जो कि प्रिय वस्तुओं की उपलब्धि, अनुषंग आदि से प्राप्त होता है;
    2. स्मृतिसुख, जो कि भूतकाल के विषयों के स्मरण से होता है,
    3. संकल्पज, जो अनागत विषयों के संकल्प से होता है और

4. विद्याशमसन्तोषादिजन्यसुख, जो कि पूर्वोक्त तीन प्रकार के कारणों से भिन्न विद्या आदि से जन्य एक विशिष्ट सुख होता है।

- सुख का वर्गीकरण (क) स्वकीय और (ख) परकीय भेद से भी किया जा सकता है। अपने सुख का तो अनुभव होता है, किन्तु परकीय सुख तो अनुमान द्वारा होता है। एक अन्य प्रकार का वर्गीकरण। (क) लौकिक और (ख) पारलौकिक रूप से भी हो सकता है। लौकिक सुख के भी निम्नलिखित भेद माने जा सकते हैं-

1. वैषयिक, जो सांसारिक वस्तुओं के भोग से मिलता है;
2. मानसिक, जो कि इच्छित विषयों के अनुसरण से प्राप्त होता है;
3. आभ्यासिक, जो किसी क्रिया के लगातार करते रहने से प्राप्त होता है; और
4. आभिमानिक, जो वैदुष्य आदि धर्मों के आरोप की अनुभूति से प्राप्त होता है।

दुःख का स्वरूप

गुणों में दुःख की भी गणना की गई है। दुःख साधारणतः पीड़ा को कहते हैं, जिसको सामान्यतः कोई भी नहीं चाहता। न्यायसूत्र में दुःख की गणना बारह प्रमेयों में की गई है।

इच्छा का स्वरूप

केशव मिश्र ने राग को और अन्नंभट्ट ने काम को इच्छा कहा है। इच्छा का विस्तृत निरूपण प्रशस्तपादभाष्य में उपलब्ध होता है। सामान्यतः अप्राप्त को प्राप्त करने की अभिलाषा इच्छा कहलाती है, प्राप्ति की अभिलाषा अपने लिए हो चाहे दूसरे के लिए। यह आत्मा का गुण है। इसकी उत्पत्ति स्मृतिसापेक्ष या सुखादिसापेक्ष आत्ममनःसंयोगरूपी असमवायिकरण से आत्मारूप समवायिकारण में होती हैं इसके दो प्रकार होते हैं: सोपाधिक तथा निरुपाधिक। सुख के प्रति जो इच्छा होती है, वह निरुपाधिक होती है और सुख के साधनों के प्रति जो इच्छा होती है, वह सोपाधिक होती है। इच्छा प्रयत्न, स्मरण, धर्म, अधर्म आदि का कारण होती है।

द्वेष का स्वरूप

- अन्नंभट्ट के अनुसार क्रोध का ही दूसरा नाम द्वेष हैं।

- प्रशस्तपाद के अनुसार द्वेष वह गुण है, जिसके उत्पन्न होने पर प्राणी अपने को प्रज्वलित-सा अनुभव करता है। यह दु:खसापेक्ष अथवा स्मृतिसापेक्ष आत्ममन: संयोग से उत्पन्न होता है और प्रयत्न, स्मृति, धर्म और अधर्म का कारण है। द्वेष के भी कई भेद होते हैं, जैसे कि–
    1. द्रोह– उपकारी के प्रति भी अपकार कर बैठना,
    2. मन्यु– अपकारी व्यक्ति के प्रति अपकार करने में असमर्थ रहने पर अन्दर ही अन्दर उत्पन्न होने वाला द्वेष,
    3. अक्षमा दूसरे के गुणों को न सह सकना अर्थात् असहिष्णुता,
    4. अमर्ष– अपने गुणों के तिरस्कार की आशंका से दूसरे में गुणों के प्रति विद्वेष और
    5. अभ्यसूया– अपकार को सहन करने में असमर्थ व्यक्ति के मन में चिरकाल तक रहने वाला द्वेष।

यह सभी द्वेष पुन: स्वकीय और परकीय प्रकार से हो सकते हैं। स्वकीय द्वेष का ज्ञान मानस प्रत्यक्ष से और परकीय द्वेष का ज्ञान अनुमान आदि से होता है।

प्रयत्न का स्वरूप

अन्नंभट्ट ने 'कृति' को प्रयत्न कहा है। प्रशस्तपाद के अनुसार प्रयत्न, संरम्भ और उत्साह पर्यायवाची शब्द हैं। प्रयत्न दो प्रकार का होता है– (1) जीवनपूर्वक और (2) इच्छाद्वेषपूर्वक। सुप्तावस्था में वर्तमान प्राणी के प्राण तथा अपान वायु के श्वास-प्रश्वास रूप व्यापार को चलाने वाला और जाग्रदवस्था में अन्त:करण को बाह्य इन्द्रियों से संयुक्त करने वाला प्रयत्न जीवनयोनि प्रयत्न कहलाता है। इसमें धर्म तथा अधर्म रूप निमित्त कारण की अपेक्षा करने वाला आत्मा तथा मन का संयोग असमवायिकारण है। हित की प्राप्ति और अहित की निवृत्ति करानेवाली शरीर की क्रियाओं का हेतु इच्छा या द्वेषमूलक प्रयत्न कहलाता है। इसमें इच्छा अथवा द्वेषरूप निमित्त कारण की अपेक्षा करनेवाला आत्मा तथा मन का संयोग असमवायिकारण है।

धर्म और अधर्म का स्वरूप

अन्नंभट्ट ने विहित कर्मों से जन्य अदृष्ट को धर्म और निषिद्ध कर्मों से उत्पन्न अदृष्ट को अधर्म कहा है। केशवमिश्र के अनुसार सुख तथा दु:ख के असाधारण

कारण क्रमशः धर्म और अधर्म कहलाते हैं। इनका ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं, अपितु आगम या अनुमान से होता है। अनुमान का रूप इस प्रकार होगा- देवदत्त के शरीर आदि देवदत्त के विशेष गुणों से उत्पन्न होते हैं (प्रतिज्ञा), क्योंकि ये कार्य होते हैं (प्रतिज्ञा), क्योंकि ये कार्य होते हुये देवदत्त के भोग के हेतु हैं। (हेतु), जैसे देवदत्त के प्रयत्न से उत्पन्न होने वाली वस्तु वस्त्र आदि (उदाहरण), इस प्रकार शरीर आदि का निमित्त होनेवाले विशेष गुण ही धर्म तथा अधर्म हैं।

संस्कार का स्वरूप

- वरदराज के मतानुसार जिस गुण में वह कारण उत्पन्न होता है, जो कि उसी जाति का हो जिस का कार्य है, (यद्यपि वह विजातीय होता है) तो वह संस्कार कहलाता है। अर्थात जब भी कोई गुण या कर्म बाह्य सहायता के बिना आन्तरिक शक्ति से ही उसी प्रकार का कार्य उत्पन्न कर दे तो वह संस्कार होता है।
- केशव मिश्र के अनुसार संस्कार सम्बन्धी व्यवहार का असाधारण कारण संस्कार कहलाता है। संस्कार तीन प्रकार का होता है- वेग, भावना और स्थितिस्थापक। संस्कार के इन तीन भेदों में वैसे तो भावना ही वस्तुतः संस्कार हैं शेष दो संस्कार नहीं हैं, किन्तु कतिपय विद्वानों का यह कथन भी ध्यान देने योग्य है कि इन तीनों में बाह्य कारणों के बिना स्वयं ही कार्य करने की क्षमता समानरूप से है।

सप्तम अध्याय

कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव

कर्म का स्वरूप

कर्म का आशय है क्रिया या गति, जैसे चलना, फिरना आदि। कर्म मूर्त द्रव्य में ही रहता है।

- कणाद के अनुसार एक समय एक द्रव्य में रहता हो, गुण से भिन्न हो तथा संयोग एवं विभाग के प्रति साक्षात कारण भी हो वह कर्म है।
- प्रशस्तपाद ने कणाद के मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए कहा कि एक के चलने पर सब में चलने की उत्पत्ति नहीं होती और जिस स्थल में एक ही समय अनेकों की चलनक्रिया होती है, वहाँ भी कारण अनेक ही हैं, क्योंकि चलनक्रियाओं के कार्य अभिघात तथा आधार में भेद है। नोदन (ढकेलना), गुरुत्व (भारीपन), वेग और प्रयत्न ये चार कर्म के प्रेरक कारण हैं। कर्म के प्रमुख भेद पाँच हैं–

  1. उत्क्षेपण,
  2. अवक्षेपण,
  3. आकुञ्चन,
  4. प्रसारण तथा
  5. गमन।

ऊर्ध्व देश के साथ होने वाले संयोग के प्रति कारणभूत क्रिया उत्क्षेपण और अधोदेश के साथ होनेवाले संयोग के प्रति कारणभूत क्रिया अवक्षेपण कहलाती है। शरीर से सन्निकृष्ट संयोग का जनक कर्म आकुञ्चन तथा शरीर से विप्रकृष्ट संयोग का जनक कर्म है–प्रसारण। इनके अतिरिक्त अन्य सब कर्म गमन कहलाते हैं। भ्रमण, रेचन आदि अन्य भी असंख्य कर्म हैं, किन्तु उनका गमन में ही

अन्तर्भाव कर लिया जाता है। उत्क्षेपण आदि कर्म नियत दिग्-देश-संयोगानुकूल होते हैं, जबकि भ्रमण, रेचन आदि अनियतदिग्देशसंयोगानुकूल होते हैं। इसके साथ ही यह भी ज्ञातव्य है कि उत्क्षेपण आदि इच्छा-सापेक्ष कर्म हैं, जबकि रेचन आदि पर यह नियम लागू नहीं होता। उदाहरण के रूप में गेंद को मैदान में पटकने के बाद जो उछाल उसमें आता है, वह उत्क्षेपण नहीं कहला सकता। क्योंकि वह उत्प्लवन स्वतः होता है, किसी की इच्छा से नहीं।

सामान्य का स्वरूप

- केशव मिश्र के अनुसार अनुवृत्ति प्रत्यय के हेतु को सामान्य कहते हैं।
- विश्वनाथ पंचानन के मत में जो नित्य हो और अनेक (एक से अधिक) वस्तुओं में समवाय सम्बन्ध से रहता हो, वह सामान्य कहलाता है।
- अन्नंभट्ट का यही मत है, किन्तु उन्होंने लक्षण में समवाय शब्द के स्थान पर अनुगत शब्द का प्रयोग किया है।
- कणाद ने सामान्य और विशेष को बुद्धिसापेक्ष कहा है।
- कणाद ने जिन छः पदार्थों के साधर्म्य (अनुगत धर्म) और वैधर्म्य (विपरीत धर्म) के ज्ञान के द्वारा उत्पन्न तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति का उल्लेख किया है, उनमें से सामान्य भी एक बताया है। उनका यह भी कथन है कि सामान्य के दो रूप होते हैं-
    1. सामान्य अर्थात केवल अनुवृत्ति बुद्धि से सम्बद्ध सामान्य तथा
    2. सामान्यविशेष अर्थात अनुवृत्ति और व्यावृत्ति रूप उभयविध बुद्धि से सम्बद्ध सामान्य। सूत्रकार कणाद ने सामान्य का कोई स्पष्ट लक्षण नहीं दिया।
- प्रशस्तपाद ने कणाद के कथन को स्पष्ट करते हुए यह कहा कि सामान्य का उपर्युक्त प्रथम रूप पर सामान्य कहलाता है और द्वितीय रूप अपर सामान्य। पर (व्यापक) सामान्य केवल सत्ता है जिसमें महाविषयत्व अर्थात सर्वाधिक देशवृत्तिता है। उससे केवल अनुगत प्रतीति ही होती है। सामान्याश्रय द्रव्यादि तीन पदार्थों में वह अनुगत बुद्धि को ही उत्पन्न करता है, न कि व्यावृत्तिबुद्धि को। जिस प्रकार परस्पर भिन्न चर्म, वस्त्र, कम्बल आदि द्रव्यों में 'नील-नील' इत्याकारक एकाकार ज्ञान होता है, उसी प्रकार से भिन्न-भिन्न पृथ्वी आदि

नौ द्रव्यों, रूप आदि चौबिस गुणों और उत्पेक्षण आदि पाँच कर्मों में भी 'सत्-सत्' ऐसा एकाकार ज्ञान होता है। अपर सामान्य अनुगतबुद्धि और भेदबुद्धि दोनों का कारण होता है अतः वह सामान्यविशेष कहलाता है। उदाहरणतया द्रव्यत्व पृथ्वी, जल आदि नौ द्रव्यों में अनुगत बुद्धि का कारण है, किन्तु गुण और कर्म से वह भेदबुद्धि का कारण भी हैं अतः वह सामान्य तथा विशेष उभयरूप है। द्रव्यत्व, गुणत्व आदि सामान्य द्रव्य, गुण आदि पदार्थों से भिन्न होने के कारण ही सामान्य नित्य है; यदि दोनों में अभेद हो तो सामान्य का भी द्रव्यादि के समान उत्पत्ति तथा नाश होने लगे। अनुगताकार ज्ञानरूप सामान्य का लक्षण प्रत्येक व्यक्ति में विलक्षण न होने से तथा भेद में प्रमाण न होने के कारण भी सामान्य अपने आधारभूत व्यक्तियों में एक ही है।

- 'सामान्य' अपने विषय में समवाय सम्बन्ध से रहता है। यद्यपि सामान्य अनियतदेश होता है अतः सर्वत्र उत्पन्न होने वाले स्वविषय गो व्यक्तियों के सामान्य वहाँ पर वर्तमान अश्वादि व्यक्तियों में भी सम्बद्ध हो सकते हैं। किन्तु गोत्व जाति के अभिव्यंजक सास्नादि रूप अवयव-संस्थान के गोरूप व्यक्तियों में नियत होने के कारण गोत्व जाति का गो व्यक्तियों में ही समवाय है, न कि अश्व आदि पिण्डों में।'

विशेष का स्वरूप

घट आदि से लेकर द्वयणुकपर्यन्त प्रत्येक वस्तु का परस्पर भेद अपने-अपने अवयवों के भेद से माना जाता है, किन्तु अवयवों के आधार पर भेद करते-करते और स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाते-जाते जब हम परमाणु तक पहुँचते हैं तो एक ऐसी भी स्थिति आ जाती है कि उसके भेद अवयव के आधार पर नहीं किये जा सकते, क्योंकि परमाणु का अवयव होता ही नहीं है। ऐसी स्थिति में परमाणु आदि का पारस्परिक भेद बताने के लिये वैशेषिक ने 'विशेष' नामक पदार्थ की कल्पना की है और न्याय के उत्तरवर्ती ग्रन्थों में भी उसकी चर्चा की गई है। संक्षेप में 'विशेष' के लक्षण में दो बातें मुख्य हैं।

1. एक तो यह कि विशेष वस्तुओं में पारस्परिक व्यावर्तन का अन्तिम तत्त्व या धर्म है। विशेष का कोई विशेष नहीं होता अर्थात यह स्वतोव्यावर्तक अर्थात स्वयं को सबसे भिन्न करनेवाला भी होता है इसी लिए इसको 'अन्त्य विशेष' कहा जाता है।

2. दूसरी बात यह है कि विशेष केवल नित्य द्रव्यों अर्थात पृथ्वी आदि चार प्रकार के अणुओं और आकाशादि चार विभु द्रव्यों में रहता है। 'विशेष अन्तिम होता है'- इस प्रकार का आशय यह है कि जैसे सबसे अधिक देश वाली 'जाति' को सत्ता कहा जाता है, उसी प्रकार ऐसे सबसे छोटे धर्म को जो केवल एक ही पदार्थ में रहे, विशेष कहा जाता है। सामान्य-विशेष की सर्वाधिक व्यापक अन्तिम सीमा का नाम सत्ता है और निम्नतम सीमा का नाम विशेष है। विशेष केवल एक पदार्थ में रहता है, अत: वह सामान्य नहीं हो सकता। वह केवल विशेष ही रहता है। 'विशेष नित्य द्रव्यों में रहता है'- इस कथन का यह आशय है कि घट आदि कार्यों का सूक्ष्म से सूक्ष्मतम रूप ढूँढ़ते-ढूँढ़ते हम अन्त में द्वयणुक तक पहुँचते हैं। द्वयणुक से भी सूक्ष्म 'अणु' है, वे अलग-अलग व्यक्ति हैं और नित्य हैं। विशेष उन्हीं भिन्न-भिन्न और नित्य व्यक्तियों में रहते हैं।

- अणु का कोई अवयव नहीं होता, अत: यह प्रश्न उठता है कि एक परमाणु का दूसरे से भेद कैसे समझा जाए? अर्थात् परमाणुओं के पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व का आधार क्या है? इसी आधार के रूप में विशेष की कल्पना की गई है। वैशेषिकों की यह मान्यता है कि द्वयणुक का संघटन करने वाले प्रत्येक परमाणु में एक विशेष नामक पदार्थ रहता है, जो आश्रयभूत परमाणु को दूसरे परमाणु से भी पृथक् करता है। एक विशेष का दूसरे विशेष से भेद करने वाला भी विशेष ही है। विशेष स्वयं अपना विभेदक है। विशेष का स्वभाव ही व्यावृत्ति है अत: उसके सम्पर्क से सजातीय परमाणु भी एक दूसरे से अलग हो जाते हैं। विशेष को माने बिना परमाणुओं का एक दूसरे से भेद नहीं हो सकता। इस संदर्भ में एक प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि यदि एक विशेष का दूसरे विशेष से भेद स्वयं ही हो जाता है तो एक परमाणु का दूसरे परमाणु से भेद भी स्वयं ही क्यों नहीं हो जाता? इस शंका का समाधान प्रशस्तपाद ने यह कह कर दिया कि विशेष का तो स्वभाव ही व्यावृत्ति है, जबकि परमाणु का स्वभाव व्यावृत्ति नहीं है। इसके साथ एक परमाणु का दूसरे परमाणु से तादात्म्य है, जबकि एक विशेष का दूसरे विशेष से तादात्म्य नहीं है।
- विशेष के सम्बन्ध में एक शंका यह भी उठाई जाती है कि योगजधर्म के

सामर्थ्य से योगियों को जैसे अतीन्द्रिय पदार्थों का दर्शन होता हा, वैसे ही उन्हें बिना विशेष के ही ज्ञान हो जाएगा फिर उनको 'विशेष' की क्या आवश्यकता है? प्रशस्तपाद इस शंका का समाधान इस प्रकार करते हैं कि योगियों को भी जो ज्ञान होता है वह बिना निमित्त के नहीं हो सकता।

समवाय का स्वरूप

जिन दो पदार्थों में कोई विनश्यता की अवस्था को प्राप्त हुए बिना अपराश्रित ही रहता है, उनके बीच जो सम्बन्ध होता है, उसको समवाय कहते हैं। इन दो पदार्थों में से कोई एक पदार्थ (यथा पट) ही दूसरे (यथा तन्तु) पर आश्रित रहता है। दोनों का एक दूसरे पर आश्रित रहना आवश्यक नहीं है, क्योंकि उदाहरणतया तन्तु तो बिना पट के भी रह सकता है।

- कणाद यह कहते हैं कि जिस सम्बन्ध के कारण अवयवों में अवयवी, व्यक्ति में जाति आदि का बोध होता है, वह समवाय कहलाता है।
- प्रशस्तपाद भी लगभग इसी कथन का अनुवर्तन करते हैं।
- वैशेषिक के अनुसार समवाय एक नित्य सम्बन्ध है, जब कि संयोग अनित्य सम्बन्ध है। किन्तु अवयवों में अवयवी समवाय सम्बन्ध से रहता है। नव्यनैयायिक समवाय को नित्य नहीं मानते। वैसे प्राचीन नैयायिकों और वैशेषिकों की दृष्टि में भी नित्यत्व का आशय यहाँ पर यह है कि कार्य को उत्पन्न किये बिना इसे उत्पन्न किया जा सकता है और न कार्य को नष्ट किये बिना इसे नष्ट किया जा सकता है।
- समवाय गुण नहीं अपितु पदार्थ है और यह समवायियों में तादात्म्य सम्बन्ध से रहता है। प्राचीन नैयायिकों के मतानुसार समवाय का प्रत्यक्ष होता है, किन्तु वैशेषिकों के अनुसार इसका अनुमान होता है। अन्नंभट्ट भी यहाँ वैशेषिक मत का ही अनुगमन करते हैं।
- मीमांसक और वेदान्ती समवाय सम्बन्ध को नहीं मानते।
- शंकराचार्य के अनुसार संयोग (गुण) द्रव्य में जिस सम्बन्ध से रहता है, वह समवाय है अतः समवाय पदार्थ नहीं है। यदि तादात्म्य सम्बन्ध से द्रव्य में समवाय की अवस्थिति मानी जाये तो संयोग की ही द्रव्य में तादात्म्य सम्बन्ध से अवस्थिति क्यों न मानी जाए?

- जैसे कि पहले भी कहा गया, समवाय सम्बन्ध अयुतसिद्ध दो पदार्थों के बीच रहता है। अयुतसिद्ध का आशय है- जो न कभी संयुक्त सिद्ध किये जा सकें, और न विभाजित। ऐसे युग्मों के आधार पर अयुतसिद्ध सम्बन्ध पाँच प्रकार का माना गया है-
  1. अवयव और अवयवी में,
  2. गुण (रूप) और गुणी
  3. क्रिया और क्रियावान् में,
  4. जाति (घटत्व) और व्यक्ति (घट) में तथा
  5. विशेष और अधिकरण नित्य (आकाश, परमाणु आदि) द्रव्य में।
- अन्नंभट्ट ने समवाय केवल एक प्रकार का ही माना है। समवाय सिद्धान्त के आधार पर ही न्याय-वैशेषिक दर्शनों को वस्तुवादी कहा जाता है। क्योंकि इसी पर कारणवाद और परमाणुवाद निर्भर करते हैं। बौद्धों के इस तर्क का कि अवयवी (वस्त्र) अवयवों (तन्तुओं) से भिन्न यानी परमाणु-पुंज के अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है, नैयायिक इस प्रकार खण्डन करते हैं कि परमाणु-पुंज का दर्शन नहीं होता, जबकि घट को देख कर यह प्रतीति होती है कि एक स्थूल घट है। अतः अवयव-अवयवी की पृथक् सत्ता अनुभवसिद्ध है।

अभाव का स्वरूप

प्रत्येक प्रतीति किसी सद्वस्तु पर आधारित होती है। अतः अभावात्मक प्रतीति का भी कोई आश्रय है, उसी को अभाव कहते हैं। प्राचीन नैयायिकों और वैशेषिकों ने केवल भाव पदार्थों का उल्लेख किया था, किन्तु उत्तरवर्ती प्रकरणग्रन्थकारों ने भी न्याय-वैशेषिक परम्पराओं को संयुक्त रूप में आगे बढ़ाया है और उनके ग्रन्थों में अभाव का भी विश्लेषण किया गया है। वैसे पदार्थ के रूप में अभाव का प्रमुख रूप से प्रतिपादन शिवादित्य ने किया है।

- प्रशस्तपाद ने केवल यह उल्लेख किया कि अभाव को कुछ लोगों ने पृथक् प्रमाण माना, किन्तु वह भी अनुमान ही है।
- कतिपय विद्वानों का यह कथन है कि कणाद ने 'कारणाभावात्कार्याभावः' और 'असतः क्रियागुणव्यपदेशाभावादर्थान्तरम्' जैसे सूत्रों में अभाव के पदार्थत्व को स्वीकार किया है।

वैसे अभाव का सामान्य अर्थ है- 'निषेध- मुखप्रमाणगम्यत्व' अर्थात् 'न' शब्द से अभिलाप किये जानेवाले ज्ञान का विषय।'

- माधवाचार्य के अनुसार अभाव उस पदार्थ को कहते हैं, जो समवाय सम्बन्ध से रहित होकर समवाय से भिन्न हो। ज्ञातव्य है कि द्रव्यों का समवाय सम्बन्ध अपने पर आश्रित गुणादि के साथ होता है। गुण और कर्म अपने आश्रय द्रव्य के साथ या अपने पर आश्रित सामान्य के साथ समवाय सम्बन्ध रखते हैं। अतः अभाव के लक्षण में असमवायत्वे सति कहने से सभी पदार्थों की और 'असमवाय' कहने से स्वयं अभाव के समवायत्व की व्यावृत्ति हो जाती है।'
- विश्वनाथ पंचानन ने अभाव के सर्वप्रथम दो भेद माने हैं- **संसर्गाभाव** और **अन्योन्याभाव**; और संसर्गाभाव के तीन भेद किये हैं- **प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव** तथा **अत्यन्ताभाव**। इस प्रकार अभाव के चार भेद हैं: 1. प्रागभाव, 2. प्रध्वंसाभाव, 3. अत्यन्ताभााव और 4. अन्योन्याभाव। अन्नंभट्ट के अनुसार जिसका आदि न हो किन्तु अन्त हो वह **प्रागभाव** है, जैसे घड़ा बनने से पहले मिट्टी में जो उस (घड़े) का अभाव है। ध्वंस के बाद भी अर्थात् नष्ट होने के बाद भी जो कार्य उत्पन्न होता है, वह प्रध्वंसाभाव है। उसके सम्बन्ध में नैयायिकों का यह मत है कि वह तो नष्ट हुए कार्य से भिन्न कार्य होता है। जैसे पत्थर पर पड़ने से घड़े का फूटना। **अत्यन्ताभाव** अनादि तथा अनन्त होता है, जैसे वायु में रूप का अभाव है। इन तीनों अभावों में घट आदि के संसर्ग (संयोग, समवाय) का अभाव प्रकट होता है। इसलिए ये **संसर्गाभाव** कहलाते हैं। दो वस्तुओं में तादात्म्य का जो अभाव होता है, उसको अन्योन्याभाव कहते हैं, जैसे घट पट नहीं है। अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव दोनों ही त्रैकालिक अर्थात नित्य हैं, किन्तु अत्यन्ताभाव संयोगसमवाय-सम्बन्ध पर निर्भर है, जबकि अन्योन्याभाव तादात्म्य-सम्बन्ध पर आधारित है।

खण्ड तीन

ज्ञानमीमांसा

अष्टम अध्याय

प्रमाण चर्चा

ज्ञान

ज्ञान (प्रमा) क्या है? ज्ञान और अज्ञान (अप्रमा) में क्या भेद है? ज्ञान के साधन अथवा निश्चायक घटक कौन हैं? इन और इसी प्रकार के कई अन्य प्रश्नों के उत्तर में ही ज्ञान के स्वरूप का कुछ परिचय प्राप्त किया जा सकता है। ज्ञान अपने आप में वस्तुत: एक निरपेक्ष सत्य है, किन्तु जब उसको परिभाषित करने का प्रयास किया जाता है तो वह विश्लेषक की अपनी सीमाओं के कारण ग्राह्यावस्था में सापेक्ष सत्य की परिधि में आ जाता है। फिर भी भारतीय मान्यताओं के अनुसार कणाद आदि ऋषि सत्य के साक्षात द्रष्टा हैं। अत: उन्होंने जो कहा, वह प्राय: ज्ञान का निरपेक्ष विश्लेषण ही माना जाता है।

प्रमाण

भारतीय दर्शन में प्रमाण उसे कहते हैं जो सत्य ज्ञान प्राप्त करने में सहायता करे, अर्थात् वह साधन या प्रक्रिया जिससे किसी दूसरी बात का यथार्थ ज्ञान हो। प्रमाण न्याय का मुख्य विषय है। 'प्रमा' नाम है यथार्थ ज्ञान का। **प्रमाकरणं प्रमाणम्** यथार्थ ज्ञान का जो करण हो अर्थात् जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान हो, उसे प्रमाण कहते हैं। न्यायदर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द – ये चार प्रमाण माने गए हैं। इसमें ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव और अनुपलब्धि के प्रमाणत्व का खंडन किया गया है।

महर्षि कणाद ने ज्ञान की कोई सीधी परिभाषा नहीं बताई। न्यायसूत्र में अक्षपाद गौतम ने ज्ञान को बुद्धि और उपलब्धि का पर्यायवाची माना। प्रशस्तपाद ने ज्ञान के इन पर्यायों में 'प्रत्यय' शब्द को भी जोड़ा। ऐसा प्रतीत होता है कि गौतम, कणाद और प्रशस्तपाद के समय तक ज्ञान के स्थान पर बुद्धि शब्द का प्रयोग होता था। शिवादित्य ने भी आत्माश्रय प्रकाश को बुद्धि कहा है। अत:

न्याय-वैशेषिक में बुद्धि का जो विश्लेषण किया गया है, उसी को ज्ञान का विश्लेषण मान लेना अनुपयुक्त नहीं होगा। ज्ञान को ही शब्दान्तर से प्रमा और ज्ञान भी कहा जाता है। वैशेषिक में ज्ञाता (आत्मा), ज्ञान और ज्ञेय को पृथक्-पृथक् माना गया है। मीमांसकों के अनुसार ज्ञान आत्मा का कर्म है। किन्तु न्याय-वैशेषिक के अनुसार ज्ञान आत्मा का गुण है। अद्वैत वेदान्त में ज्ञान या चैतन्य को आत्मा का गुण नहीं, अपितु स्वरूप या स्वभाव माना गया है, किन्तु न्यायवैशेषिकों के अनुसार ज्ञान आत्मा का स्वभाव नहीं अपितु आगन्तुक गुण है। सांख्य में बुद्धि और ज्ञान को अलग-अलग मानते हुए यह कहा गया है कि बुद्धि (महत्) प्रकृति का कार्य है और ज्ञान उसका साधन। कुछ पाश्चात्य मनीषियों ने ज्ञान को मन और विषय के बीच का एक सम्बन्ध बताया है, पर, जैसा कि पहले भी कहा गया, वैशेषिक ज्ञान को आत्मा का गुण मानते हैं, सम्बन्ध नहीं। विश्वनाथ पञ्चानन ने भी बुद्धि के दो भेद अनुभूति और स्मृति मान कर अनुभूति के अन्तर्गत प्रमाणों का निरूपण किया। अन्नंभट्ट ने वैशेषिकों के चिन्तन का सार सा प्रस्तुत करते हुए यह कहा कि-समस्त व्यवहार के हेतुभूत गुण को बुद्धि या ज्ञान कहते हैं। बुद्धि या ज्ञान या प्रमा का निश्चय प्रमाणों के द्वारा सम्पन्न होता है।

प्रमाण

प्रमाण का स्वरूप

व्युत्पत्ति की दृष्टि से प्रमाण शब्द प्र उपसर्गपूर्वक माङ् धातु से करण में ल्युट् प्रत्यय जोड़ने निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है- प्रमा का आत्यन्तिक कारण प्रमाण की परिभाषा विभिन्न दर्शनों के आचार्यों ने विभिन्न रूप से की है। सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक बौद्धों ने यह कहा कि प्रमाण वह है, जिससे सम्यक् ज्ञान हो। नागार्जुन प्रमाण की सत्ता नहीं मानते। दिङ्नाग की परम्परा में धर्मकीर्ति ने यह बताया कि विवक्षित अर्थ को बताने वाला सम्यक् तथा अविसंवादि ज्ञान प्रमाण है। जैन परम्परा में अकलंक के अनुसार पूर्व अनधिगत, व्यवसायात्मक सम्यक् ज्ञान तथा हेमचन्द्र के अनुसार पूर्वाधिगत सम्यक् ज्ञान भी प्रमाण है। सांख्य सूत्रकार यह मानते हैं कि असन्निकृष्ट अर्थ का निश्चय करना प्रमा है और उसके साधकतम कारण प्रमाण हैं। भाट्ट मीमांसक अगृहीत अर्थ के ज्ञान को और प्राभाकर मीमांसक अनुभूति को प्रमाण मानते हैं। वेदान्त में अगृहीतग्राहित्व को प्रमाण का मुख्य आधार माना गया है।

न्यायपरम्परा में प्रचलित मन्तव्यों का समाहार करके प्रमाण की व्यापक परिभाषा देते हुए जयन्तभट्ट यह कहते हैं कि– 'वह सामग्री–साकल्य ही प्रमाण है, जो अव्यभिचारि तथा असंदिग्ध ज्ञान का जनक हो और जिसमें ज्ञान के बोध और अबोधस्वरूप समग्र कारणों का समावेश हो।' आचार्य कणाद ने प्रमाण के लिए दोषराहित्य आवश्यक बताया। वल्लभाचार्य ने भी सत्य ज्ञान को विद्या कहा है। श्रीधर ने अध्यवसाय शब्द को भी प्रमाण की परिभाषा में जोड़ा। शंकर मिश्र ने उपस्कार में यह कहा कि प्रमाण वह है जो ज्ञान का उत्पादक हो।

प्रमाण के भेद

भारतीय दर्शन परंपरा में आठ प्रकार के प्रमाण माने गए हैं : 1. प्रत्यक्ष, 2. अनुमान, 3. उपमान, 4. शब्द, 5. ऐतिह्य, 6. अर्थापत्ति, 7. संभव और 8. अनुपलब्धि। जबकि वैशेषिक दर्शन में प्रमाण के दो ही भेद माने गये हैं– प्रत्यक्ष और अनुमान। न्यायपरम्परा में प्रवर्तित अन्य दो प्रमाणों– उपमान और शब्द–का वैशेषिकों ने अनुमान में ही अन्तर्भाव किया है। न्यायपरम्परा में भी भासर्वज्ञ (10वीं शती) ने उपमान को पृथक् प्रमाण नहीं माना और न्याय के शेष सब पदार्थों का विवेचन भी शेष तीन प्रमाणों के अन्तर्गत कर दिया। यहाँ हम चार प्रमाणों के विषय में चर्चा करेंगे– 1. प्रत्यक्ष, 2. अनुमान, 3. उपमान एवं 4. शब्द

प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष का स्वरूप और भेद

इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान की प्रत्यक्षता का संकेत वैशेषिक सूत्र में भी उपलब्ध है। प्रशस्तपाद के कथनों का भी यह सार है कि प्रत्यक्ष शब्द ज्ञान सामान्य का वाचक है। प्रत्यक्ष के दो भेदों की ओर संकेत करते हुए प्रशस्तपाद यह कहते हैं कि प्रत्यक्ष में विषय का आलोचनमात्र होता है। उन्होंने एक वैकल्पिक परिभाषा यह भी दी है कि आत्मा, मन, इन्द्रिय और वस्तुओं के सन्निकर्ष से उत्पन्न निर्दोष तथा शब्द द्वारा अनुच्चारित अव्यपदेश्य जो ज्ञान हो, वह प्रत्यक्ष कहलाता है। 'यह गो है'– ऐसा सुनने पर जो ज्ञान होता है, वह शब्द की अतिशयता है, चक्षु की नहीं। चक्षु उसमें गौण रूप से सहायक है। प्रशस्तपाद के इन कथनों में प्रत्यक्ष के सविकल्पक और निर्विकल्पक इन दोनों भेदों के सामान्य और विशिष्ट लक्षणों का भी समावेश हो गया है। श्रीधर भी प्रत्यक्ष की 'अक्षमक्षं प्रतीत्य या बुद्धिरुत्पद्यते तत्प्रत्यक्षं प्रमाणम्'– ऐसी परिभाषा करते हैं। अक्षशब्द

में यहाँ घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र और मन इनका समाहार होता है, कर्मेन्द्रियों का नहीं। प्रत्यक्ष ज्ञान केवल द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य का ही होता है, विशेष और समवाय का नहीं। महर्षि कणाद और महर्षि गौतम दोनों ने ही इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को प्रत्यक्ष प्रमाण माना, किन्तु उन्होंने इसके निर्विकल्पक और सविकल्पक इन दो भेदों का उल्लेख नहीं किया है। भाष्यकार प्रशस्तपाद ने दोनों का सांकेतिक उल्लेख किया और उनकी परिभाषाएँ भी बताईं।

यह ज्ञातव्य है कि न्यायसूत्रकार द्वारा प्रयुक्त 'अव्यपदेश्यम्' और 'व्यवसायात्मकम्' इन दो लक्षण घटकों के आधार पर वाचस्पति मिश्र ने प्रत्यक्ष के सविकल्पक और निर्विकल्पक इन दो भेदों का स्पष्ट प्रवर्तन किया। बौद्धों के विचार में निर्विकल्पक ही प्रत्यक्ष है, जबकि वैयाकरण सविकल्पक को ही प्रत्यक्ष मानते हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार निर्विकल्पक शुद्ध सत का ग्रहण करता है और सविकल्पक गुण कर्म आदि से युक्त सत् का। धर्मराजाध्वरीन्द्र का यह कथन है कि निर्विकल्पक संसर्गानवगाही ज्ञान है और सविकल्पक वैशिष्ट्यावगाही ज्ञान न्याय वैशेषिक यह कहते हैं कि प्रत्यक्ष के इन दोनों भेदों में आत्मा तो एक ही है, किन्तु अवस्थाभेद के कारण नामभेद है। निर्विकल्पक प्रथम सोपान है और सविकल्पक द्वितीय।

प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद हैं- बाह्य और आभ्यंतर। घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक् और श्रोत्र, इन इंद्रियों को, शरीर के बाहर ऊपरी भाग में रहने के कारण तथा बाहरी विषयों का ग्राहक होने के कारण 'बाह्य प्रत्यक्ष प्रमाण' और मन को शरीर के भीतर आत्मा के साथ रहने तथा भीतरी पदार्थ आत्मा एवं आत्मीय गुणों का ग्राहक होने के कारण 'आंतर प्रत्यक्ष प्रमाण' कहा जाता है। प्रत्यक्ष शब्द से इन्द्रिय, तज्जन्य ज्ञान और उनके विषय इन तीनों का बोध होता है। ये तीन प्रकार के बोध निम्नलिखित व्युत्पत्तियों से क्रमशः उत्पन्न होते हैं :

1. '(अर्थ) प्रति गतम् अक्षम् = इन्द्रियम्' - (अर्थसन्निकृष्ट इन्द्रिय)
2. '(अर्थ) प्रति गतम् अक्षम् यस्मै' (इन्द्रियजन्य ज्ञान)
3. 'यं प्रति गतम् अक्षम्' (इन्द्रियसन्निकृष्ट विषय)

इन्द्रिय रूप प्रत्यक्ष प्रमाण की संख्या छः होने से तज्जन्य ज्ञानों की संख्या छः होती है और उन्हें इन्द्रियद्वारक नामों से व्यवहृत किया जाता है, जैसे- घ्राणज, रासन, चाक्षुष, त्वाक्, श्रावण और मानस इन प्रत्यक्ष ज्ञानों में प्रत्येक के दो भेद होते हैं- निर्विकल्पक और सविकल्पक।

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष

प्रशस्तपाद के अनुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में पदार्थ के सामान्य और विशिष्ट गुणों का साक्षात्कार तो होता है, किन्तु दोनों का भेद मालूम नहीं होता, इसमें पदार्थ के स्वरूपमात्र का आलोचन होता है। श्रीधर के कथनानुसार भी निर्विकल्पक प्रत्यक्ष वह है जो स्वरूपमात्र के आलोचन से युक्त हो।' वैयाकरण निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को प्रामाणिक नहीं मानते, क्योंकि उनके मतानुसार वह व्यावहारिक क्रियाकलाप के योग्य नहीं होता। किसी भी पदार्थ का बोध उसके नाम के साथ ही होता है। बिना भाषा के कोई विचार नहीं होता। किन्तु नैयायिकों और वैशेषिकों ने वैयाकरणों के इस मत का खण्डन करते हुए यह बताया कि गूंगे को भी पदार्थों का बोध होता है। यदि रूप और नाम का तादात्म्य होता तो अन्धे को श्रोत्र से रूप का ग्रहण हो जाता, पर ऐसा नहीं होता।

इस प्रत्यक्ष में वस्तु के स्वरूप मात्र का भान होता है, किन्तु उसके विकल्पों का भान नहीं होता; अतएव इस प्रत्यक्ष की विषयता विशेषणता विशेष्यता और संसर्गता से विलक्षण होती है और वह विलक्षण विषयता ही इस प्रत्यक्ष का लक्षण है। यह अतीन्द्रिय होता है अर्थात् इसका प्रत्यक्ष नहीं होता। 'सविकल्पक प्रत्यक्ष' के कारण रूप में इसका अनुमान होता है।

सविकल्पक प्रत्यक्ष

सविकल्पक प्रत्यक्ष में सभी धर्म स्पष्ट रूप से भासित होते हैं। जैसे गो का निर्विकल्पक ज्ञान होने के अनन्तर उसके वर्ण आदि का जो ज्ञान होता है, वह सविकल्पक कहलाता है। बौद्ध सविकल्पक को ज्ञान नहीं मानते, क्योंकि उनके मत में विकल्प कल्पनाजन्य और भ्रान्त होते हैं। श्रीधर बौद्धों के मत का खण्डन करते हुए यह कहते हैं कि कम्बुग्रीवादि रूप घट की विलक्षण प्रतीति, पटादि पदार्थों की प्रतीति से विलक्षण होती है, अतः सविकल्पक प्रत्यक्ष प्रामणिक है। शिवादित्य आदि उत्तरवर्ती आचार्य भी प्रशस्तपाद के मत का अनुवर्तन करते हुए यह मानते हैं कि सविकल्पक से पहले निर्विकल्पक की और निर्विकल्पक के अनन्तर सविकल्पक की सत्ता मानना युक्तिसंगत है।

यह प्रत्यक्ष विशिष्टग्राही होता है। इसकी विषयता विशेषणता-प्रकारता, विशेष्यता और संसर्गता के भेद से तीन प्रकार की होती है। यह निर्विकल्पक से उत्पन्न होता है और मन से इसका प्रत्यक्ष वेदन होता है। इसके प्रत्यक्ष को

'अनुव्यवसाय' शब्द से व्यवहृत किया जाता है। प्रत्येक जन्य सविकल्पक प्रत्यक्ष के दो भेद होते हैं- लौकिक और अलौकिक।

लौकिक प्रत्यक्ष - प्रत्यक्ष वर्तमान और समीपस्थ वस्तु का ही ग्राहक होता है। उसका जन्म वस्तु के साथ इंद्रिय के लौकिक सन्निकर्ष से होता है; वे सन्निकर्ष छः प्रकार के हैं - संयोग, संयुक्त समवाय, संयुक्तसमवेत समवाय, समवाय, समवेत समवाय और विशेषणता। इनमें संयोग से द्रव्य का, संयुक्तसमवाय से द्रव्य के गुण, कर्म और सामान्य का, संयुक्तसमवेत समवाय से गुण और कर्म के सामान्य का, समवाय से शब्द का, समवेत समवाय से शब्द के सामान्य का और विशेषणता से समवाय तथा अभाव का प्रत्यक्ष होता है।

अलौकिक प्रत्यक्ष - अलौकिक प्रत्यक्ष दूरस्थ और अविद्यमान पदार्थ को भी ग्रहण करता है। उसका जन्म विषय के साथ इंद्रिय के अलौकिक सन्निकर्ष से संपन्न होता है। अलौकिक सन्निकर्ष तीन प्रकार के बताए गए हैं- सामान्यलक्षण, ज्ञानलक्षण और योगज।

सामान्यलक्षण प्रत्यक्ष - ज्ञातसामान्य या सामान्यज्ञान को सामान्यलक्षणसन्निकर्ष कहा जाता है। इससे समीपस्थ, दूरस्थ, विद्यमान और अविद्यमान सभी प्रकार के समस्त सामान्याश्रयों का प्रत्यक्ष होता है। यह प्रत्यक्ष उसी दशा में होता है, जब सामान्य के किसी आश्रय के लौकिक प्रत्यक्ष की सामग्री सन्निहित रहती है। इसी सन्निकर्ष की महिमा से किसी एक मात्र धूम में किसी एक मात्र वह्नि के साहचर्य ज्ञान से ही सब धूमों में सब वह्नि की व्याप्ति का ज्ञान हो जाता है तथा सन्निकृष्ट धूम में वह्नि की व्याप्ति का निश्चय रहते हुए भी असन्निकृष्ट धूम में वह्निव्यभिचार का संदेह होता है।

ज्ञानलक्षण प्रत्यक्ष - तत्तद् विषय का ज्ञान ही तत्तद् विषय के साथ इन्द्रिय का 'ज्ञानलक्षण' सन्निकर्ष कहा जाता है। इस सन्निकर्ष से ज्ञान के विषय का ही प्रत्यक्ष होता है, उसके आश्रय का नहीं। इसी के प्रभाव से एक पदार्थ में अन्य पदार्थ के धर्म का भ्रमात्मक प्रत्यक्ष होता है।

योगज - योगाभ्यास से मनुष्य की आत्मा में एक विशिष्ट धर्म का उदय होता है। इस धर्म को ही विषय के साथ इन्द्रिय का योगज सन्निकर्ष कहा जाता है। इससे इन्द्रियों का सामर्थ्य बढ़ जाता है, जिसके फलस्वरूप इन्द्रियां दूरस्थ और अविद्यमान पदार्थ का भी प्रत्यक्ष करने लगती हैं। उसके प्रभाव से ही योगी को सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है।

नित्य प्रत्यक्ष - इस सन्दर्भ में यह बात ध्यान देने योग्य है कि उक्त जन्य प्रत्यक्षों से अतिरिक्त एक नित्य प्रत्यक्ष भी है, जो अजन्मा एवं अविनाशी है। वह प्रत्यक्ष समग्र संसार को विषय करता है और उपादानप्रत्यक्ष के रूप में सभी कार्यों का कारण होता है। वह एकमात्र ईश्वर में ही समवेत रहता है।

अनुमान : स्वरूप और भेद

'लीनम् परोक्षम् अर्थम् गमयति इति लिङ्गम्' व्युत्पत्ति की दृष्टि से लिङ्ग का अर्थ है परोक्ष ज्ञान। वैशेषिक सूत्रकार कणाद यह कहते हैं कि कार्य, कारण, संयोगी, विरोधी, एवं समवायी आदि के आधार पर, सम्बद्ध लिङ्गी का जो ज्ञान होता है वह लैङ्गिक अर्थात अनुमान है। कणाद ने अनुमान के लक्षण में ही इस बात का निर्देश किया कि अनुमान

1. कारण,
2. कार्य,
3. संयोग,
4. विरोध और
5. समवाय- इन पाँच प्रकार के हेतुओं में से, किसी एक से भी किया जा सकता है।' वैशेषिकों के मन्तव्य का सार यह है कि अनुमिति का कारण लिङ्गज्ञान है। किन्तु इस संदर्भ में अन्नंभट्ट का यह कथन भी ध्यान देने योग्य है कि लिङ्गज्ञान को नहीं, अपितु लिङ्गपरामर्श को अनुमिति का कारण माना जाना चाहिए। कणाद ने अनुमान के भेदों का विवेचन नहीं किया, किन्तु प्रशस्तपाद ने यह बताया कि अनुमान के
6. दृष्ट और
7. सामान्यतोदृष्ट ये दो भेद हैं। उत्तरवर्ती वैशेषिकों ने प्रायः प्रशस्तपाद का अनुगमन किया।

दृष्ट अनुमान

ज्ञात (प्रसिद्ध) और साध्य में जाति का अत्यन्त भेद न होने पर अर्थात हेतु के साथ पहले से ही ज्ञात रहने वाले साध्य, और जिस साध्य की सिद्धि की जाती हो, उसमें सजातीयता होने पर जो अनुमान किया जाता है, वह दृष्ट अनुमान है। जैसे पहले किसी नगर स्थित गाय में सास्ना को देखने के बाद अन्यत्र वन आदि

में सास्नावान प्राणी को देखा तो अनुमान किया कि वह गो है। जो वस्तु पहले लिंग के साथ देखी जाती है वह प्रसिद्ध कहलाती है और जो बाद में अनुमेय के रूप में देखी जाती है, वह साध्य कहलाती है। यहाँ प्रसिद्ध (ज्ञात) गो और साध्य गो में जाति का भेद नहीं है। अत: यह दृष्ट अनुमान है।

सामान्यतोदृष्ट अनुमान

प्रसिद्ध (ज्ञात) और साध्य में अत्यन्त जातिभेद होने पर भी यदि उनमें किसी सामान्य की अनुवृत्ति होती हो तो उस अनुवृत्ति से जो अनुमान किया जाता है, वह सामान्यतोदृष्ट कहलाता है। जैसे कृषक, व्यापारी, राजपुरुष आदि अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होकर अपने अभिप्रेत फल को प्राप्त करते हैं। इससे यह विदित होता है कि प्रवृत्ति, फलवती होती है और लिङ्गसामान्य (फलवत्त्व) का स्वाभाविक सम्बन्ध है। कोई वर्णाश्रमी व्यक्ति सन्ध्यावन्दन प्रभृति किसी धर्मपरक कार्य में प्रवृत्त है तो उससे यह अनुमान लगाया जाता है कि इस प्रवृत्ति का स्वर्गप्राप्ति जैसा कोई फल है। क्योंकि प्रवृत्ति फलवती होती है। इस प्रकार हेतुसामान्य और फलसामान्य की व्याप्ति के आधार पर जो अनुमान किया जाता है वह सामान्यतोदृष्ट कहलाता है।

अनुमान प्रमाण से उन सभी पदार्थों का ज्ञान किया जाता है जो इन्द्रिय द्वारा ज्ञात होने की योग्यता रखते हुए भी दूरस्थ या अविद्यमान होने के कारण इन्द्रिय से ज्ञात नहीं होते अथवा जिसमें इन्द्रिय से ज्ञात होने की योग्यता ही नहीं होती। इसके दो भेद होते हैं - **स्वार्थानुमान** और **परार्थानुमान**। जिस अनुमान से अपने संशय का निराकरण या अपने आप को साध्य का निश्चय होता है, उसे 'स्वार्थानुमान' तथा जिस अनुमान से अन्य व्यक्ति - जिज्ञासु, प्रतिवादी या मध्यस्थ - के संशय का निराकरण या साध्य का निश्चय होता है, उसे 'परार्थानुमान' कहा जाता है। 'स्वार्थानुमान' की निष्पत्ति अन्य पुरुष के वचन की अपेक्षा न कर अपने प्रयास से हेतु में साध्य की व्याप्ति का ज्ञान अर्जित कर की जाती है और 'परार्थानुमान' की निष्पत्ति अन्य पुरुष के वचन से अर्थात् पंचावयवात्मक न्याय के प्रयोग से व्याप्तिज्ञान प्राप्त कर की जाती है। इसीलिए गंगेशोपाध्याय ने तत्त्वचिंतामणि (अनुमान खंड) के अवयवप्रकरण में स्पष्ट कहा है-

तच्चानुमानं परार्थं न्यायसाध्यमिति न्यायस्तदवयवाश्च प्रतिज्ञा हेतूदाहरणोपनय निगमनानि निरूप्यन्ते।

पञ्चावयव न्याय - इसकी परिभाषा आरंभ में बताई गई है। न्यायशास्त्र में इसके पाँच अवयव माने गए हैं - प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। जिस वाक्य से पक्ष के साथ साध्य के संबंध का ज्ञान हो उसे 'प्रतिज्ञा', जिस वाक्य से हेतु में साध्य की ज्ञापकता अवगत हो उसे 'हेतु', जिस वाक्य से हेतु में साध्य की व्याप्ति बताई जाए उसे 'उदाहरण', जिस वाक्य से पक्ष में साध्यवाक्य हेतु का संबंध बोधित हो उसे 'उपनय' और जिस वाक्य के हेतु का अबाधितत्व एवं असत्प्रतिपक्षितत्व बताते हुए हेतु के सामर्थ्य से पक्ष में साध्य के संबंध का उपसंहार किया जाए उसे 'निगमन' कहा जाता है। उनके उदाहरण क्रम में इस प्रकार हैं :

1. 'पर्वतो वह्निमान्' - प्रतिज्ञा
2. 'धूमात्' - हेतु
3. 'यो यो धूमवान् स स वह्निमानं' - उदाहरण
4. तथा चायम् - उपनय
5. तस्माद् वह्निमान् - निगमन

अनुमान का स्वरूप

हेतु, व्याप्तिज्ञान या व्याप्तिज्ञानसहकृत मान को अनुमान कहा जाता है। इनमें तीसरा पक्ष बहुत ही कम प्रसिद्ध है पर प्रथम दो पक्ष अधिक प्रसिद्ध हैं। उदयनाचार्य तथा उनके अनुयायी 'हेतु' को और गंगेशोपाध्याय तथा उनके अनुयायी व्याप्तिज्ञान को अनुमान कहते हैं।

अनुमान के भेद

न्याय दर्शन में अनुमान के तीन भेद बताए गए हैं- पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। वात्स्यायन ने इन अनुमानों की निम्नलिखित रूप से दो प्रकार की व्याख्याएँ की हैं :

1. पूर्ववत् = कारण से कार्य अनुमान जैसे- मेघ से भावी वृष्टि का।

2. शेषवत् = कार्य से कारण का अनुमान जैसे- प्रवाह की पूर्णता, द्रुतगामिता, तृणादियुक्तता से भूत वृष्टि का।

3. सामन्यतोदृष्ट = कार्य-कारणभाव का नियमन होने पर भी जैसे- 'एक स्थान में देखे गए पदार्थ की अन्य स्थान में सामान्यता एक सहचरित पदार्थ से

अन्य उपलब्धि उस पदार्थ के अन्य स्थान में जाने से सहचरित पदार्थ का अनुमान ही संभव है'- इस सहचार नियम के आधार पर प्रात: पूर्व में देखे गए सूर्य को सायंकाल पश्चिम में देखकर सूर्य के पूर्व से पश्चिम जाने का अनुमान होता है।

1. पूर्ववत् = एक आश्रय में एक साथ प्रत्यक्ष दो पदार्थों में जैसे- पाकशाला में एक प्रत्यक्ष देखे गए धूम और एक से दूसरे का पूर्व की भाँति साथ होने का अनुमान वह्नि में धूम से पर्वत वह्नि का अनुमान।

2. शेषवत् = प्रसक्त का प्रतिषेध और अन्यत्र प्रसक्ति के अभाव से जैसे- भावात्मक होने के कारण द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य शेष बचनेवाले पदार्थ का अनुमान। विशेष और समवाय में शब्द के अंतर्भाव की प्रसक्ति होनेपर सत्ता जाति का आश्रय होने से सामान्य, (2) विशेष और समवाय में एक द्रव्यमात्र में समवेत होने से द्रव्य में और शब्दांतर का कारण होने से कर्म में अंतर्भाव का निषेध तथा अभाव में भावात्मक शब्द के अंतर्भाव की अप्रसक्ति से शेष बचने वाले गुण में शब्द के अंतर्भाव का अनुमान।

3. सामान्यतोदृष्ट = जिन दो पदार्थों में व्याप्यव्यापक भाव संबंध जैसे- इच्छा आदि गुण और आत्मा का परस्पर संबंध प्रत्यक्ष विदित न हो, किंतु प्रत्यक्ष विदित संबंध जब प्रत्यक्षविदित नहीं है, किंतु सामान्य रूप से वाले पदार्थों का सामान्य सादृश्य हो, उनमें गुण और द्रव्य का संबंध प्रत्यक्षविदित है, इच्छा एक दूसरे का अनुमान आदि में गुण का एवं आत्मा में द्रव्यत्व रूप से अन्य द्रव्य का सादृश्य होने के कारण इच्छा आदि गुणों से उनके आश्रय रूप में आत्मस्वरूप द्रव्य का अनुमान।

उक्त तीनों अनुमानों में प्रत्येक के तीन भेद माने जाते हैं- 'केवलान्वयी', 'केवलव्यतिरेकी' और अन्वयव्यतिरेकी। इन भेदों का आधार रघुनाथ शिरोमणि ने साध्य को, उदयानाचार्य ने व्याप्तिग्राहक सहचार को और गंगेशोपाध्याय ने व्याप्ति को माना है।

रघुनाथ का तात्पर्य यह है कि जिस साध्य का विपक्ष नहीं होता उस साध्य का अनुमान 'केवलान्वयी' अनुमान कहा जाता है, जैसे वाच्यत्व, ज्ञेयत्व आदि सार्वत्रिक धर्मों का अनुमान; एवं जिस साध्य का सपक्ष नहीं होता उस साध्य का अनुमान 'केवल व्यतिरेकी' अनुमान कहा जाता है, जैसे गंध से पृथिवी में पृथिवीतरभेद का अनुमान; तथा जिस साध्य में सपक्ष, विपक्ष दोनों होते हैं। उस

साध्य का अनुमान 'अन्वयव्यतिरेकी' अनुमान कहा जाता है, जैस धूम से वह्नि का अनुमान।

उदयनाचार्य का आशय यह है कि 'अन्वयसहचार' = हेतु में साध्य का सहचार और 'व्यतिरेकसहचार' अर्थात् साध्याभाव में हेत्वभाव का सहचार, इन दोनों सहचारों से अन्वयव्याप्ति का ही ज्ञान होता है और उसी से अनुमिति होती है, अतः जिस अनुमिति के उत्पादक व्याप्तिज्ञान का उदय केवल अन्वयसहचार के ज्ञान से होता है उस अनुमिति का कारण 'केवलान्वयी' अनुमान, एवं जिस अनुमिति के उत्पादक व्याप्तिज्ञान का जन्म केवल व्यतिरेकसहचार से होता है उस अनुमिति का कारण 'केवल व्यतिरेकी' तथा जिस अनुमिति के उत्पादक व्याप्तिज्ञान का उदय अन्वयसहचार और व्यतिरेक सहचार दोनों के ज्ञान से होता है उस अनुमिति का कारण 'अन्वयव्यतिरेकी' अनुमान कहा जाता है।

गंगेशोपाध्याय का अभिप्राय यह है कि अनुमिति की उत्पत्ति केवल अन्वयव्याप्तिज्ञान से ही नहीं होती, किंतु व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान से भी होती है, अतः जिस अनुमिति का जन्म केवल अन्वयव्याप्तिज्ञान से होता है उस अनुमिति का कारण 'केवलान्वयी', एवं जिस अनुमिति का जन्म केवल व्यतिरेकव्याप्ति के ज्ञान से होता है उस अनुमिति का कारण 'केवलव्यतिरेकी' तथा जिस अनुमिति का जन्म अन्वय और व्यतिरेक दोनों व्याप्तियों के ज्ञान से होता है उस अनुमिति का कारण 'अन्वयव्यतिरेकी' अनुमान कहा जाता है।

हेतु, हेत्वाभास एवं पक्षता

हेतु

जिस पदार्थ में साध्य की व्याप्ति और पक्षधर्मता के ज्ञान से अनुमिति की उत्पत्ति होती है उसे 'हेतु' या लिङ्ग कहा जाता है। उसके दो भेद होते हैं - 'सद्धेतु' और हेत्वाभास (दुष्ट हेतु)। सद्धेतु में निम्नलिखित पाँच रूप अवश्य होने चाहिए :

1. पक्षसत्त्व = पक्ष में रहना
2. सपक्षसत्त्व = साध्य के निश्चित आश्रय में रहना
3. विपक्षासत्त्व = साध्याभाव के निश्चित आश्रय में न रहना
4. अबाधिकत्त्व = पक्ष में साध्य का बाधित न होना।

5. असत्प्रतिपक्षितत्त्व = पक्ष में साध्याभाव के साधनार्थ अन्य हेतु के ज्ञान या प्रयोग का न होना

यहाँ उक्त पाँचों के रूपों से संपन्न होना केवल अन्वयव्यतिरेकी सद्धेतु के लिए ही आवश्यक है। केवलान्वयी सद्धेतु के लिए 'विपक्षासत्त्व' से अतिरिक्त चार रूपों से ही संपन्न होना अपेक्षित होता है।

हेत्वाभास

जिसके ज्ञान से अनुमिति उसके कारणभूत व्याप्तिज्ञान या पक्षधर्मताज्ञान का प्रतिबंध होता है उसे – हेतुगत दोष अर्थ में – 'हेत्वाभास' कहा जाता है और ये दोष जिन हेतुओं में होते हैं उन्हें– 'दुष्ट हेतु अर्थ में'– 'हेत्वाभास' कहा जाता है। हेतुगत दोष के पाँच भेद माने जाते हैं। निम्नलिखित तालिका से यह समझा जा सकता है कि वे भेद कौन हैं, उनके द्वारा क्या प्रतिबध्य होता है, तथा उनसे युक्त दुष्ट हेतुओं के क्या नाम हैं?

क्रमांक	हेतुदोष	प्रतिबध्य	दुष्ट हेतु
1	सव्यभिचार	व्याप्तिज्ञान	विरुद्ध (अनैकांतिक)
2	विरुद्ध	व्याप्तिज्ञान	विरुद्ध
3	सत्प्रतिपक्ष	अनुमिति	सत्यप्रतिपक्षित (प्रकरणसम)
4	असिद्धि	प्राय: अनुमिति	व्याप्ति असिद्ध ज्ञान, पक्षधर्मताज्ञान
5	बाध	अनुमिति	बाधित (कालातीत)

अनुमिति के कारण – लिङ्ग – हेतु का त्रिविध परामर्श अनुमिति का कारण होता है। 'पक्ष हेतु के संबंध का ज्ञान' प्रथम लिङ्ग परामर्श कहा जाता है– जैसे पर्वत में धूम के संबंध का 'पर्वतो धूमवान्' इस प्रकार का ज्ञान। 'हेतु में साध्य की व्याप्ति का ज्ञान' द्वितीय लिङ्ग परामर्श कहा जाता है – जैसे धूम में, वह्निव्याप्ति का 'धूमो वह्नि व्याप्य:' इस प्रकार का ज्ञान। पक्ष में साध्यव्याप्य हेतु के संबंध का ज्ञान' तृतीय या चरम लिङ्ग परामर्श कहा जाता है – जैसे पर्वत में वह्निव्याप्य धूम के संबंध का 'पर्वतो वह्निव्याप्य धूमवान्' इस प्रकार का ज्ञान।

पक्षता

'पक्षता' भी अनुमिति का एक कारण है। पक्ष में साध्य का निश्चय रहने की दशा में अनुमिति की उत्पत्ति को रोकने के लिए इसे अनुमिति का कारण माना

जाता है। प्राचीन नैयायिकों ने 'साध्यसंशय' को, उदयनाचार्य ने 'अनुमिति विषयक इच्छा' को, पक्षधर मिश्र ने अनुमितिजनक इच्छा के रूप में 'अनुमाता की अनुमिति - इच्छा' को तथा उसके अभाव में 'ईश्वर की इच्छा' को और गंगेशोपाध्याय ने 'सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभाव' को 'पक्षता' माना है। गंगेशोपाध्याय का मंतव्य यह है कि जब पक्ष में साध्य सिद्धि होती है और उस साध्य को अनुमान से जानने की इच्छा नहीं होती, उसी समय अनुमिति की उत्पत्ति नहीं होती है; किंतु साध्य को अनुमान से जानने की इच्छा होने पर पक्ष में साध्यनिश्चय की दशा में भी अनुमिति की उत्पत्ति होती है। उसके लिए साध्यसंशय या अनुमितता की नियत अपेक्षा नहीं होती।

1	आश्रयासिद्धि	पक्ष में पक्षतावच्छेदक का अभाव; जैसे-आकाशपुष्प को पक्ष बनाने पर पुरुपरूप पक्ष में आकाशीयत्व रूप पक्षतावच्छेदक का अभाव।
2	साध्याप्रसिद्धि	साध्य में साध्यतावच्छेदक का अभाव; जैसे-आकाशपुष्प को साध्य बनाने पर पुष्प रूपसाध्य में आकाशीयत्व रूप साध्यताकच्छेदक का अभाव।
3	सत्प्रतिपक्ष	पक्ष में साध्याभावव्याप्य हेतु का संबंध; जैसे-शब्द में नित्यत्व रूप साध्य के अभाव अनित्य के व्याप्य 'जन्यत्व' का संबंध।
4	बाध	पक्ष में साध्य का अभाव जैसे-शब्द रूप पक्ष में नित्यत्व रूप साध्य का अभाव।

इन चारों निश्चयों से अनुमिति का प्रतिबंध होता है; अतः इन चारों निश्चयों का अभाव 'प्रतिबंधकाभाव' के रूप में अनुमिति का कारण होता है।

व्याप्ति, व्याप्ति ज्ञान के उपाय, तर्क और उपाधि

व्याप्ति

व्याप्ति ज्ञान को द्वितीय लिङ्गपरामर्श के रूप में अनुमिति का कारण कहा गया है। इस व्याप्ति के निर्वचन में नैयायिकों ने बड़ा पुरुषार्थ प्रदर्शित किया है; क्योंक यही अनुमान के प्रमाणत्व की आधारशिला है। व्याप्ति मुख्य रूप से दो प्रकार की मानी गई है - 'अन्वयव्याप्ति' और 'व्यतिरेकव्याप्ति'। जिस व्याप्ति के शरीर में - साध्य में हेतु व्यापकत्व - प्रवेश हो उसे सिद्धांतमत अन्वयव्याप्ति

कहा जाता है – जैसे 'हेतुव्यापकसाध्यसामानाधिकरण्य'। और जिस व्याप्ति के शरीर में – हेत्वभाव में साध्याभावव्यापकत्व– का प्रवेश हो उसे 'व्यतिरेकव्याप्ति' कहा जाता हैं – साध्याभावव्यापकाभाव प्रतियोगित्व'। अन्वयव्याप्ति का तात्पर्य यह है कि हेतु का ऐसे साध्य के आश्रय में रहना, जिसका हेतु के किसी आश्रय में अभाव न हो। और व्यतिरेकव्याप्ति का तात्पर्य यह है कि साध्याभाव के आश्रयों में हेत्वभाव का होना। जैसे – धूमकेतु किसी आश्रय में वह्नि का अभाव न होने से वह्नि धूम का व्यापक है और उस वह्नि के आश्रय महानस आदि में धूम रहता है; इसी प्रकार वह्न्यभाव के आश्रयों में धूम का अभाव रहता है; इसलिए धूम में वह्नि की 'अन्वय' और 'व्यतिरेक' दोनों व्याप्तियाँ रहती हैं।

व्याप्तिज्ञान के उपाय

व्यातिज्ञान के तीन साधक माने जाते हैं– 'व्यभिचार का अज्ञान,' 'हेतु में साध्यसहचार या साध्याभाव में हेत्वभावसहचार' का ज्ञान और 'तर्क'। इनमें प्रथम दो व्याप्तिज्ञान के सार्वत्रिक साधन हैं; पर तर्क सर्वत्र नहीं क्वचित् ही अपेक्षित होता है। जैसा कि विश्वनाथ ने अपने भाषा परिच्छेद (कारिकावली) नामक ग्रंथ के गुण प्रकरण में कहा है :

व्यभिचारस्याग्रहोऽथ सहचाराग्रहस्तथा।
हेतुर्व्याप्तिग्रहे तर्कः क्वचिच्छंकानिवर्तकः।।137।।

तर्क – गौतम ने तर्क का लक्षण कहा है :

अविज्ञाततत्तवेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्तवज्ञानार्थमूहस्तर्कः

(न्या. द. 1.1.42)

(जिस अर्थ का तत्त्व निर्णीत न हो उसके तत्त्वज्ञान के लिए युक्ति पूर्वक किए जानेवाले 'ऊह' ज्ञान का नाम है 'तर्क')।

परवर्ती नव्य नैयायिकों ने तर्क का लक्षण इस प्रकार किया है : 'व्याप्य के आहार्य आरोप से व्यापक का जो आहार्य आरोप होता है' वह 'तर्क' है। इस तर्क का विपरीत अनुमान में अर्थात् व्यापक व आपाद्य के अभाव से व्याप्य व आपादक के अभाव के अनुमान में पर्यवसन्न होना इसकी शुद्धता का निकष माना जाता है। जब कभी हेतु में साध्य व्यभिचार की शंका होने से व्याप्तिज्ञान का प्रतिबंध होने लगता है, उस शंका को तर्क द्वारा निरस्त कर व्याप्तिज्ञान का पथ प्रशस्त कर दिया जाता है। जैसे–पाकगृहगत धूम में पाकगृहगत वह्नि के सहचार

का ज्ञान होने पर भी जब पर्वतीय धूम में वह्निव्यभिचार की शंका होती है, उसे दूर करने के लिए 'तर्क' का सहारा लिया जाता है। जैसे – 'किसी भी धूम में यदि वह्नि का व्यभिचार होगा तो वह्नि धूम का कारण न हो सकेगा और यह संभव नहीं है कि वह्नि को धूम का कारण न माना जाए; क्योंकि उस दशा में धूम के संपादनार्थ वह्नि के ग्रहण में मनुष्य की नियत प्रवृत्ति का लोप हो जाएगा'। इस तर्क के फलस्वरूप यह निष्कर्ष निकलता है कि 'धूम वह्नि से उत्पन्न होता है अत: उसमें वह्निव्यभिचार का अभाव है' और इस निष्कर्ष के निष्पन्न होते ही पर्वतीय धूम में वह्निव्यभिचार की शंका निवृत्त हो जाने से धूम में वह्निव्याप्ति का ज्ञान निर्बाध रूप से संपन्न हो जाता है।

उपर्युक्त तर्कलक्षक सूत्र की विश्वनाथवृत्ति में तर्क के आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था और इन चारों से पृथक् बाधितार्थप्रसंग, ये पाँच भेद बतला कर प्रत्येक का उदाहरण प्रदर्शित किया गया है।

उपाधि

जो पदार्थ के सब आश्रयों में रहता हो पर हेतु के सब आश्रयों में न रहता हो, 'उपाधि' कहा जाता है। उपाधि के तीन भेद होते हैं – शुद्ध साध्य का व्यापक, पक्षधर्मसहित साध्य का व्यापक तथा साधनयुक्त साध्य का व्यापक।

शुद्धसाध्य व्यापक उपाधि – जब वह्नि से धूम का अनुमान किया जाता है, तब 'आर्द्र ईंधन' उ गीली लकड़ी शुद्ध साध्य का व्यापक उपाधि होता है, क्योंकि आर्द्र ईंधन धूम रूप साध्य के सभी आश्रयों में रहता है पर अग्नितप्त लोहगोलक में न रहने के कारण वह्नि रूप साधन के सब आश्रयों में नहीं रहता।

पक्षधर्मसहित साध्य की व्यापक उपाधि – जब वायु में प्रत्यक्ष स्पर्श रूप हेतु से प्रत्यक्षत्व का अनुमान किया जाता है तब 'उद्भूत रूप' पक्षधर्मसहित साध्य का व्यापक उपाधि होता है, क्योंकि वायुस्वरूप पक्ष के बहिर्द्रव्यत्व रूप धर्म के साथ प्रत्यक्षत्व जिन प्रत्यक्षबाह्यद्रव्य रूप आश्रयों में रहता है उन सभी में उद्भूत रूप रहता है, पर वायु में न रहने के कारण प्रत्यक्ष स्पर्श के सब आश्रयों में नहीं रहता।

साधनयुक्त साध्य की व्यापक उपाधि – जब ध्वंस में 'जन्यत्व' हेतु से 'विनाशित्व' का अनुमान किया जाता है तब 'भावत्व' साधन युक्त साध्य का

उपाधि होता है, क्योंकि जन्यत्व के साथ विनाशित्व जिन जन्य विनाशी पदार्थों में रहता है उन सभी में भावत्व रहता है, पर ध्वंस में न रहने के कारण जन्यत्व के सब आश्रयों में नहीं रहता।

उपाधि का ज्ञान व्याप्तिज्ञान का सीधा विरोधी नहीं होता है। अर्थात् हेतु में साध्य व्यापक उपाधि के व्यभिचार से उसमें साध्य व्यभिचार का अनुभव होता है और साध्य के उस आनुमानिक व्यभिचारज्ञान से व्याप्तिज्ञान का साक्षात् प्रतिबंध होता है।

उपमान/प्रमाण

एक पदार्थ में अन्य पदार्थ के सादृश्यज्ञान 'उपमान' प्रमाण कहा जाता है। इससे अर्थविशेष में शब्द विशेष के शक्ति संबंध का ज्ञान होता है। उसकी प्रक्रिया कुछ इस प्रकार है।

जब कोई अरण्यवासी मनुष्य किसी ग्रामवासी मनुष्य को बताता है कि अरण्य में तुम्हारी गौ के सदृश गवय नाम का एक पशु होता है, जब तुम अरण्य में कभी जाना तो जिस पशु को अपनी गौ के सदृश देखना उसे गवय समझ लेना, तदनुसार जब ग्रामवासी कभी अरण्य जाता है और वहाँ अपनी गौ के सदृश किसी पशु को देखता है उसे अरण्यवासी की बात का स्मरण होता है और उसे फलस्वरूप उस पशु में उसे गवय शब्द के शक्तिसंबंध का निश्चय हो जाता है। इस प्रकार गवय में गोसादृश्य का दर्शन उपमानक्रमण, अरण्यवासी के द्वारा उपदिष्ट अर्थ का स्मरण उसका व्यापार तथा गवय में गवय शब्द की शक्ति का निश्चय उपमिति नामक फल कहा जाता है। उदयनाचार्य ने यही बात अग्रिम कारिका में कही है।

संबंधस्य परिच्छेदः संज्ञायाः संज्ञिना सह।
प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वादुपमानफलं विदुः।।

(न्या. कु. 3 स्त. 10 का)

विश्वनाथ न्यायपंचानन की अग्रिम कारिकाओं में यह विषय और भी विशद है:

ग्रामीणस्य प्रथमतः पश्यतो गवयादिकम्।
सादृश्यधीर्गवादीनां या स्यात् सा करणं स्मृतम्।।79।।

वाक्यार्थस्यातिदेशस्य स्मृतिर्व्यापार उच्यते।
गवयादिपदाना तु शक्तिधीरुपमा फलम्।।80।।

(भाषा परिच्छेद)

शब्द / आप्तप्रमाण

जिसमें पदार्थ के शक्ति या लक्षण संबंध के ज्ञान से पदार्थ का स्मरण होकर पदार्थ का अनुभव होता है, उसे 'शब्द प्रमाण' कहा जाता है। घट शब्द में घटपदार्थ के शक्ति संबंध के ज्ञान से घट का स्मरण होकर घट का अनुभव और गंगा शब्द में गंगातीर के लक्षण संबंध के ज्ञान से गंगातीर का स्मरण होकर गंगातीर का अनुभव होने से घट और गंगातीर रूप अर्थों में घट और गंगा शब्द प्रमाण होते हैं।

अमुक शब्द अमुक अर्थ का बोधक हो, अथवा अमुक अर्थ अमुक शब्द से बोधित हो, इस प्रकार के अनादि ईश्वर-संकेत को शक्ति कहा जाता है। जैसे राजा भगीरथ ने कपिल मुनि के शाप से दुग्ध और अपने पूर्वज सार सुतों के उद्धारार्थ जिस जलप्रवाह को पृथ्वी पर प्रवर्तित किया, उस जलप्रवाह में गंगा का अनादि संकेत उस अर्थ में गंगा शब्द की शक्ति है।

जिस अर्थ में जिस शब्द का अनादि संकेत न होकर आधुनिक संकेत होता है, उस अर्थ में उस शब्द के आधुनिक संकेत को 'परिभाषा' कहा जाता है। जैसे किसी नूतन वस्तु के लिए उसके निर्माता द्वारा निश्चित किया गया कोई नाम।

शब्द के शक्यार्थसंबंध को 'लक्षणा' कहा जाता है। जैसे- शब्द के शक्यार्थ जलप्रवाह का तीर के साथ संयोग संबंध।

जब किसी शब्द से शक्ति द्वारा वक्ता के अभिमत अर्थ की प्रतीति नहीं हो पाती उस शब्द से लक्षणा द्वारा उस अर्थ की प्रतीति सम्पन्न हो जाती है।

न्यायशास्त्र के अनुसार अर्थ के शक्ति और लक्षणा संबंध संस्कृत भाषा के शुद्ध शब्दों में ही आश्रित होते हैं, अन्य भाषाओं के शब्द न्यायशास्त्र की दृष्टि में अपशब्द या अपभ्रंश माने जाते हैं। अपभ्रंश शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है जब उसमें अर्थ की परिभाषा की गई होती है या उसमें अर्थ का शक्तिभ्रम होता है।

शक्ति और लक्षणा से अतिरिक्त व्यंजना नाम का कोई शब्दार्थ संबंध न्यायशास्त्र में मान्य नहीं है। जिस अर्थ के अवबोध के लिए ऐसे तीसरे संबंध की आवश्यकता

समझी जाती है, उसका बोध कहीं लक्षणा से, कहीं ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष के द्वारा मन से और कहीं अनुमान से ही संपन्न हो जाता है।

शब्द प्रमाण के दो भेद होते हैं- वैदिक और लौकिक। इनमें लौकिक शब्दावली को अन्य लौकिक प्रमाणों के संवाद से ही प्रमाण माना जाता है, पर वैदिक शब्दावली (वेद) को किसी लौकिक प्रमाण के संवाद के बिना भी प्रमाण माना जाता है। वेदमूलक स्मृतियों को लौकिक कहा जाए या वैदिक, किंतु उनका प्रमाणत्व वेद के संवाद पर निर्भर होता है।

शब्द प्रमाण होनेवाले अनुभव को शब्दबोध कहा जाता है। वह पदज्ञान, पद-पदार्थ संबंध ज्ञान, पदार्थ स्मरण आकांक्षाज्ञान, आसत्ति या आसत्तिज्ञान, योग्यताज्ञान या अयोग्यता निश्चय का अभाव, तात्पर्यज्ञान या तात्पर्यज्ञापक प्रकरण इन सात कारणों से उत्पन्न होता है।

प्रमा और अप्रमा

न्यायमत में ज्ञान दो प्रकार का होता है। संस्कार मात्र से उत्पन्न होने वाला ज्ञान स्मृति कहलाता है तथा स्मृति से भिन्न ज्ञान 'अनुभव' कहा जाता है। यह 'अनुभव' दो प्रकार का होता है- यथार्थ अनुभव तथा अयथार्थ अनुभव। जो वस्तु जैसी हो उसका उसी रूप में अनुभव होना यथार्थ अनुभव है (यथाभूतोऽर्थो यस्मिन् स:)। घट का घट रूप में अनुभव होना यथार्थ कहलाएगा। यथार्थ अनुभव का ही दूसरा नाम 'प्रमा' है। 'अयं घट:' (यह घड़ा है) इस प्रमा से हमारे अनुभव का विषय है घट (विशेष्य) जिसमें 'घटत्व' द्वारा सूचित विशेषण की सत्ता वर्तमान रहती है तथा यही घटत्व घट ज्ञान का विशिष्ट चिह्न है और इसीलिए इसे 'प्रकार' कहते हैं। जब घटत्व से विशिष्ट घट का अनुभव यही होता है कि वह कोई घटत्च से युक्त घट है, तब यह प्रमा होती है- घटत्ववद् घटविशेष्यक-घटत्वप्रकारक अनुभव। प्रमा से विपरीत अनुभव को 'अप्रमा' कहते हैं अर्थात् किसी वस्तु में किसी गुण का अनुभव जिसमें वह गुण विद्यमान ही नहीं रहता। रजत में 'रजतत्व' का ज्ञान अप्रमा है। प्रमा के दृष्टांत में 'घटत्व' घट का विशेषण है और घट ज्ञान का प्रकार है। फलत: 'विशेषण' किसी भौतिक द्रव्य का गुण होता है, परंतु 'प्रकार' ज्ञान का गुण होता है।

अनुभव और स्मरण

उक्त चार प्रमाणों से होनेवाले ज्ञान अनुभव कहा जाता है। अनुभव के दो भेद

होते हैं- उपेक्षात्मक और अनुपेक्षात्मक। जो अनुभव अपने विषय का कोई संस्कार डाले बिना ही विलीन हो जाता है उसे 'उपेक्षात्मक अनुभव' तथा जो अनुभव अपने विषय का संस्कार उत्पन्न कर नष्ट होता है उसे 'अनुपेक्षात्मक' अनुभव कहा जाता है। कालांतर में इसी संस्कार के जागरण से जो पूर्व अनुभव के समान ज्ञानांतर पैदा होता है उसे ही 'स्मरण' कहा जाता है। स्मरण की यथार्थता और अयथार्थता अनुभव की यथार्थता और अयथार्थता पर निर्भर होती है। स्मरण को प्रमाण और भ्रम दोनों से भिन्न माना जाता है।

स्वतस्त्व, परतस्त्व- ज्ञान के प्रमा और भ्रम दो भेद बताए गए हैं। उनकी उत्पत्ति तथा प्रमात्व या भ्रमत्व रूप से उनकी ज्ञप्ति के बारे में भिन्न भिन्न दर्शनों के भिन्न भिन्न मत हैं, किंतु न्यायशास्त्र में यह बात मानी गई है कि प्रमा की उत्पत्ति स्वत: अर्थात् ज्ञान सामान्य के कारण मात्र से न होकर गुणात्मक कारण की सहायता से होती है और भ्रम की उत्पत्ति स्वत: न होकर दोषात्मक कारण की सहायता से होती है। इसी प्रकार ज्ञान के प्रमात्व एवं भ्रमत्व का ज्ञान भी स्वत: अर्थात् ज्ञान के स्वरूपग्राहक कारण मात्र से न होकर अन्य कारण के सन्निधान से होता है, जैसे प्रमात्व का ज्ञान 'सफल प्रवृत्तिहेतुक अनुमान' और भ्रमत्व का ज्ञान 'विफलप्रवृत्तिहेतुक अनुमान' से होता है। जिस ज्ञान से होनेवाली प्रवृत्ति सफल अर्थात् ज्ञात विषय की प्रापिका होती है, उसे प्रमा समझा जाता है और जिस ज्ञान से होनेवाली प्रवृत्ति विफल अर्थात् ज्ञात विषय की प्रापिका नहीं होती, उसे भ्रम कहा जाता है

वाद, जल्प और वितंडा- न्यायशास्त्र के ज्ञातव्य विषयों में वाद, जल्प और वितंडा का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इन तीनों को वात्स्यायन ने अपने न्यायभाष्य में 'कथा' शब्द से व्यवहृत किया है।

तिस्त्र: कथा भवंति वादो जल्पो वितंडा चेति (न्यायभाष्य 1.2.1 सूत्र)

कथा का अर्थ है किसी विषय पर विद्वानों का वह पारस्परिक विचार जो वाद, जल्प और वितंडा के रूप में उपलब्ध होता है। तत्त्व निर्णय के उद्देश्य से किए जानेवाले विचार को '**वाद**' एवं प्रतिद्वंद्वी पर विजय प्राप्त करने के उद्देश्य से किए जानेवाले विचार को 'जल्प' तथा 'वितंडा' कहा जाता है। वादात्मक विचार में 'छल' और 'जाति' का प्रयोग तथा 'अपसिद्धांत' 'न्यून', 'अधिक' और 'हेत्वाभास' से अतिरिक्त निग्रह स्थानों का उद्भावन वर्ज्य माना गया है। इस

विचार में सभा, मध्यस्थ एवं राजा या राजप्रतिनिधि की आवश्यकता नहीं होती। इसमें भाग लेनेवाले विद्वान् अविनीतवंचक, असूयावान् या दुराग्रही नहीं होते। शुद्ध न्याय से तत्त्वनिर्णय पर पहुँचना ही उसका लक्ष्य होता है। इसमें विचारकों के बीच जयपराजय की कोई भावना नहीं होती।

जल्प और **वितंडा** का स्वभाव वाद से पर्याप्त भिन्न है। इन विचारों में भाग लेने वाले विद्वानों का उद्देश्य तत्त्वनिर्णय नहीं, अपितु जिस किसी प्रकार अपने प्रतिद्वंद्वी को मूक बनाकर अपने आपको विजयी सिद्ध करना होता है। इसीलिए इन विचारों में छल और जाति के प्रयोग तथा सभी प्रकार के निग्रह स्थानों के उद्भावना की काट रहती है, साथ ही विचार के निर्विघ्न संचालन के लिए सभा, मध्यस्थ और राजकीय नियंत्रण की आवश्यकता होती है।

जल्प और वितंडा के उद्देश्य में ऐक्य होने पर भी उनकी प्रकृति में बहुत अंतर है। जैसे जल्प में वादी और प्रतिवादी दोनों अपने अपने पक्ष का साधन और परपक्ष का खंडन करते हैं, पर वितंडा में केवल वादी ही अपने पक्ष के साधन का प्रयास करता है, प्रतिवादी वादी के पक्ष का खंडन करने में ही अपनी कृतार्थता मानकर अपने पक्ष की स्थापना तथा उसके साधन के प्रयास से विरत रहता है।

तत्त्व निर्णय के लिए 'वाद' तथा निर्णीत तत्त्व की रक्षा के लिए 'जल्प' और वितंडा की उपयोगिता मानी जाती है।

छल, जाति और निग्रह स्थान

ये विषय भी न्यायशास्त्र के प्रमुख विषयों में हैं। प्रतिवादी के छलपूर्वक आक्रमण से अपने पक्ष की रक्षा के लिए छल का ज्ञान आवश्यक है। वादी के पक्ष का खंडन करने के लिए उसके वचन में उसके अनभिमत अर्थ की कल्पना को '**छल**' कहा जाता है।

छल के तीन भेद होते हैं- वाक्छल, सामान्यच्छल और उपचारच्छल।

स्वयं 'जाति' के प्रयोग से बचने के लिए तथा प्रतिवादी द्वारा 'जाति' का प्रयोग होने पर उसका असदुत्तरत्व घोषित करने की क्षमता प्राप्त करने के लिए 'जाति' का ज्ञान आवश्यक है। व्याप्ति के अभाव में केवल साधर्म्य या वैधर्म्य से वादी के पक्ष में दोष-प्रदर्शन करने का नाम 'जाति' है :

साधर्म्य वैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जाति (न्या.द. 1.2.18)

जाति के चौबीस भेद हैं –

साधर्म्यसमा, वैधर्म्यसमा, उत्कर्षसमा, अपकर्षसमा, वर्ण्यसमा, विकल्पसमा, साध्यसमा, प्राप्तिसमा, अप्राप्तिसम, प्रसंगसमा, प्रतिदृष्टांतसमा, अनुत्पत्तिसमा, संशयसमा, प्रकरणसमा, अहेतुसमा, अर्थापत्तिसमा, अविशेषसमा, उपलब्धिसमा, अनुपलब्धिसमा, नित्यसमा, अनित्यसमा और कार्यसमा।

अपने आपको निग्रहस्थान में पड़ने से बचाने के लिए तथा प्रतिवादी के निग्रहस्थान में पहुँचने पर विग्रहस्थान का निर्देश कर प्रतिवादी को निगृहीत करने की अर्हता प्राप्त करने के लिए निग्रहस्थान का ज्ञान आवश्यक है। इसके बाईस भेद हैं- प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञांतर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञासंन्यास, हेत्वंतर, अर्थांतर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, अप्राप्तकाल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानुयोग, अपसिद्धांत और हेत्वाभास।

अन्यथाख्याति

जन्य सविकल्पक ज्ञान के दो भेद होते हैं- प्रमा और भ्रम। भ्रम का ही दूसरा नाम है 'अन्यथाख्याति'। इसके तीन भेद होते हैं- संशय, विपर्यय और आरोप। एक ही आशय में परस्पर विरोधी दो पदार्थों के एक ज्ञान को 'संशय' कहा जाता है, जैसे- 'शब्द: नित्यो न वा' (शब्द नित्य है या अनित्य)। किसी वस्तु में अन्य वस्तु के धर्म का निश्चय 'विपर्यय' कहा जाता है, जैसे सूर्य के प्रकाश में चमकती सीपी में रजतत्व का ज्ञान। विरोधी ज्ञान के रहते हुए ज्ञाता की इच्छा से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान 'आरोप' या 'आहार्य' कहा जाता है, जैसे रांगा को चाँदी बताकर किसी गँवार के हाथ उसे बेचनेवाले ठग को रांगे में चाँदीपन के अभाव का ज्ञान होते हुए भी उसमें इच्छापूर्वक चांदीपन का ज्ञान। इन अन्यथाख्यातियों की उपपत्ति करने के लिए ही न्यायशास्त्र में 'ज्ञानलक्षण' अलौकिक सन्निकर्ष की कल्पना की गई है।

प्रत्यभिज्ञा

धाराप्रवाह प्रत्यक्षज्ञान को 'प्रत्यभिज्ञा' कहा जाता है। संस्कार और इन्द्रिय के सम्मिलित व्यापार से उसकी उत्पत्ति होती है। पूर्वदृष्ट एवं दृश्यमान पदार्थ की एकता का ग्राहक होने से वही स्थायी पदार्थ की सत्ता में प्रमाण होता है। जब मन संयुक्त इंद्रिय के सन्निकर्ष से किसी विषय का प्रत्यक्ष होता है, जब तक उस

विषय के साथ इन्द्रिय का तथा इन्द्रिय के साथ मन का संयोग बना रहता है, प्रतिक्षण उस विषय का नया नया प्रत्यक्षज्ञान होता रहता है। इस प्रत्यक्ष समूह को ही धारावाही ज्ञान कहा जाता है। विषय के अबाधित होने से यह ज्ञान भी प्रमात्मक माना जाता है।

अन्य

आत्मा - जो द्रव्य चैतन्य (ज्ञान) आश्रय होता है, उसे आत्मा कहा जाता है। उसके दो भेद हैं- जीवात्मा और परमात्मा।

परमात्मा- परमात्मा का ही नाम ईश्वर है। वह एक और व्यापक है। ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न उसके विशेष गुण हैं और वे सभी नित्य तिथा सर्वविषयक हैं। ईश्वर ही जीवों के पूर्वार्जित शुभ, अशुभ कर्मों के अनुसार जगत् की रचना करता है। सृष्टि के आरंभ में जीवों के हितार्थ वेदों का निर्माण करता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों तथा ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास इन चार आश्रमों की व्यवस्था कर मनुष्यों को वर्णाश्रम धर्म की तथा अन्य प्रकार के विविध लोकव्यवहार की शिक्षा प्रदान करता है। वही जगत् का स्रष्ट्या होने से ब्रह्मा, पालक होने से विष्णु तथा संहर्ता होने से रुद्र नाम से व्यवहृत होता है। वह अनुमान और शास्त्र से गम्य है। कदाचित् उसका प्रत्यक्ष भी होता है, पर वह केवल सिद्ध योगी को ही।

जीवात्मा- जीवात्मा की संख्या अनंत है। प्रत्येक जीव व्यापक तथा ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि विशेष गुणों का आश्रय और उन गुणों के साथ मन द्वारा प्रत्यक्ष वेद्य है। प्रत्येक जीव शुभाशुभ कर्मों की पुण्य पापरूप वासना तथा विविध प्रकार के अनुभवों की वासना द्वारा अनादि काल से बद्ध होता है। देव, दानव, यक्ष, गंधर्व, मनुष्य, पशु, पक्षी, साँप, बिच्छू, कीड़े, मकोड़े, लता, वनस्पति आदि विविध चर-अचर योनियों में उसका जन्म होता रहता है। उक्त बंधन तथा तन्मूलक दु:खयंत्रणा से उसे छुटकारा नहीं मिलता जब तब उसे परमात्मा और स्वात्मा का तत्त्वसाक्षात्कार नहीं हो जाता।

मोक्ष - न्यायशास्त्र में इक्कीस प्रकार के दु:ख माने गए हैं। घ्राण रसना, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र और मन ये छः इंद्रियाँ; गंध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द और रागद्वेषमोहात्मक दोष ये छः विषय; विषयेन्द्रियों के संपर्क से होने वाले छः विषयानुभव, शरीर सुख और दु:ख- इनमें अंतिम 'दु:ख' स्वभावत: द्वेष्य होने

के कारण मुख्य दु:ख है, किंतु सुख मुख्य दु:ख से अनुबिद्ध होने के कारण तथा अन्य उन्नीस मुख्य दु:ख के जनक होने के कारण गौण दु:ख हैं– इन इक्कीस प्रकार के दु:खों से सर्वदा के लिए पूर्ण रूप से छुटकारा पाने का ही नाम है 'मोक्ष' है।

मोक्षसाधन – सद्धर्म के अनुष्ठान से 'चित्त का शोधन' 'पदार्थों का तत्त्व ज्ञान' तथा 'आत्मा के वास्तविक स्वरूप का प्रत्यक्ष बोध' ये तीन मोक्ष के साधन हैं। नित्य, नैमत्तिक और निष्काम कर्म के श्रद्धा एवं नियमपूर्वक चिर अनुष्ठान से जब मनुष्य अपने चित्त का शोधन कर लेता है, संसार के विषयों से उसे विरक्ति हो जाती है, जिसके फलस्वरूप उसे जगत् के पदार्थों, विशेषत: परमात्मा और स्वात्मा की तत्त्वजिज्ञासा होती है। उस जिज्ञासा से प्रेरित होकर वह सद्गुरु के चरणों में पहुँच, उससे शास्त्र का अध्ययन कर प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों का – जिनका न्याय – वैशेषिक के मर्मज्ञ विद्वानों ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव इन सात पदार्थों में अंतर्भाव कर लिया है – तत्त्वज्ञान अर्जित करता है। अनंतर मनन, निदिध्यासन एवं आदरपूर्वक दीर्घकालव्यापी अविच्छिन्न अभ्यास से परमात्मा का अलौकिक मानस तथा विशेषगुणमुक्त आत्मा का लौकिक मानस तत्त्व साक्षात्कार प्राप्त कर न्याय दर्शन के द्वितीय सूत्र में कहे गए क्रम से पहले जीवनमुक्ति प्राप्त करता है, अर्थात् जीवन काल में ही सब बंधनों से मुक्त हो जाता है और उसके बाद प्रारब्ध कर्मों का भोग द्वारा अवसान हो जाने पर वर्तमान शरीर से संबंध तोड़कर विदेहमुक्ति को प्राप्त करता है। पुन: कभी किसी भी रूप में उसका जन्म नहीं होता और वह ईश्वर के समान नितांत निर्दु:ख हो अपने निसर्गसिद्ध शुद्ध शाश्वत रूप में सदा के लिए प्रतिष्ठित हो जाता है।